हिन्दी-सांख्यदर्शन

मूलग्रन्थ सहित

श्रीहरियाणा-शेखावाटी ब्रह्मचर्याश्रमाध्यक्ष-

पण्डित सीताराम शास्त्रि सम्पादित

HINDI SANKHYADARSHANA.

EDITED AND ANNOTATED

VIDYAMARTANDA

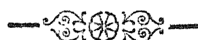
Principal,Shrechariana shekhawati Brahmacharyashram

Printed by P. Magni Rama S. Dhrama Press Meerut.

"हिन्दीसांख्य"

लिये इसके

भूमिका



सांख्य के छः (६) दर्शनों में सांख्य दर्शन सब से प्राचीन और [illegible] जाता है। इस दर्शन के आविष्कार के कर्ता महामुनि कपिलदेव जी हुवे हैं, जो भगवान् के २४ अवतारों में से अन्यतम अवतार हैं।

"पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम् ।
प्रोवाचासुरयेसांख्यं तत्वग्रामविनिर्णयम् ॥"

[श्री० भा० १, ३, १०]

अर्थात्–५ वां कपिल नाम सिद्धेश्वर अवतार हुआ, जिसने काल से विलुप्त सांख्य शास्त्र को,–जिस में तत्वों के समूह का निर्णय किया गया है, आसुरि नाम अपने शिष्य को पढ़ाया।

इस वाक्य के "कालविप्लुतम्" इस पद से यह भी निर्णय होता है, कि-कपिल देव से पहिले भी सांख्य शास्त्र था, किन्तु वह काल से विलुप्त हो गया था। तथा यह भी कि आप का प्रथम शिष्य आसुरि हुआ।

भगवान् कपिल देव सांख्य शास्त्र के आविष्कार या पुनरुद्धार करने वाले, स्वायंभुव मनु के दौहित्र और कर्दम महर्षि के पुत्र थे। स्वायंभुव मनु १४ मनुओं में आद्य मनु थे,–

"स्वायंभुवो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम् ।
आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव ॥"

(रघुवं० १,)

उन्होंने अपनी कन्या देवहूति नाम की कर्दम ऋषि से विवाही थी। स्वायंभुव मनु ब्रह्मावर्त्त देश में बर्हिष्मती नाम नगरी में रहते थे, और सप्तद्वीपा पृथ्वी के सम्राट् थे। कर्दम

महर्षि सरस्वती नदी के तीर पर बिन्दुसर
थे। उक्त मनु ने अपने स्थान से अपनी महारा
के साथ अपनी उक्त कन्या को रथ में बिठा कर व.
के स्थान में) जाकर ब्राह्म-विवाह-विधि से, जो सब।
में प्रथम (उत्तम) कहा गया है, उस के साथ व्याह दी
फिर समय पाकर कर्दम के वीर्य से देवहूति में ९ कन्याएं
हुईं। पुनः देवहूति के प्रार्थनानुसार बहुत काल के पश्चात्
भगवान् के अंश से कपिल नाम पुत्र हुआ।

"तस्यां बहुतिथेकाले भगवान्मधुसूदनः।
कार्दमं वीर्यमापन्नो जज्ञेऽग्निरिवदारुणि॥"

(श्री० भा० ३, २४, ६)

इस उपर्युक्त इतिहास के अनुसार कपिलदेव ब्राह्ममहाकल्प के आरम्भ में हुये और उसी समय इस सांख्य शास्त्र का पुनरुद्भव (पुनर्जन्म) हुआ। इसी प्रकार यह शास्त्र कपिलदेव से आसुरि को, उससे पञ्चशिख को और उस से शिष्यपरम्परा के द्वारा ईश्वरकृष्ण को प्राप्त हुआ, तथा उन्हों-ने उस सांख्य को प्रचलित कारिकाओं में, जो "दुःखत्रयाभिघातात्,, इस कारिका से आरम्भ होकर "परवादविवर्जिताश्चापि,, इस कारिका पर समाप्त होती हैं,लिखा।

"एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेनच बहुधाकृतं तन्त्रम्॥
शिष्यपरम्परयागतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः।
संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम्॥

(सां० का० ७०-७१)

इसी ईश्वरकृष्णीय सांख्य के आधार पर यह हमरा

"हिन्दीसांख्य" है। पाठकों के सुखपूर्वक शास्त्र में प्रवेश के लिये इसके आरम्भ में चित्रावली लगाई है, जिस के द्वारा सांख्य के तत्वों को पाठक संक्षेप से अनायास समझ सकेंगे, और फिर ग्रन्थ के पढ़ने में भी उन्हें बहुत सुविधा होगी। ग्रन्थ के भीतर जिस कारिका (श्लोक) का अर्थ आरम्भ होता है, वहां पर भी सुख बोध के लिये विषयबोधक शीर्षक, उस के नीचे कारिका और उस के नीचे उसी की व्याख्या है। कहीं२ ग्रन्थ के भीतर भी समझाने के लिये चित्र लगाये गये हैं। विषय के क्लिष्ट होने के कारण जहां सरलता नहीं हो सकी है, उस के लिये विद्वानों से क्षमा प्रार्थनापूर्वक निवेदन है, कि- वे उस की सूचना देवें, जिससे कि- वह सुधार दूसरी आवृत्ति में कर दिया जावे।

भागवत सांख्य और यह सांख्य

भागवत पुराण के सांख्य में भी प्राकृतिक तत्व २४ ही हैं

"पञ्चभिः पञ्चभिर्ब्रह्मन् चतुर्भिर्दशभिस्तथा।
एतच्चतुर्विंशतिकं गणं प्राधानिकं विदुः"

(श्री० भा० ३, २६; ११)

अर्थात्-५ महाभूत (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) ५ तन्मात्र (गन्ध, रस, रूप, स्पर्श शब्द) ४ अन्तः करण (मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त) ५ ज्ञानेन्द्रियें (श्रोत्र, त्वचा, दृक्, रसन, नासिका) ५ कर्मेन्द्रियें (वाणी, कर, चरण, लिङ्ग, गुद) यह प्रधान या प्रकृति का गण है।

ईश्वरकृष्णीय सांख्य में २५ वां तत्व पुरुष को बताया गया है, उसके स्थान में भागवत में काल तत्व कहा है।

"एतावानेव संख्यातो ब्रह्मणः सगुणस्य ह।
संनिवेशो मया प्रोक्तो यः कालः पञ्चविंशकः" ॥

(श्री० भा० ३, २६, १५)

इस काल तत्व के संबन्ध में दो मत हैं। (१) कोई वि-द्वान् मानते हैं कि-यह पुरुष का ही प्रभाव है, जिससे अज्ञानी मनुष्य को भय होता है। (२) दूसरा सिद्धान्त मत यह है कि यह भगवान् ही काल रूप से प्रतीत होता है, जिस के सम्बन्ध से गुणों के साम्यरूप प्रधान (जड़) में भी चेष्टा हो जाती है, तथा वही भगवान् शरीरों के भीतर पुरुष रूप से है, और बाहर से वही कालरूप प्रतीत होता है।

"प्रभावं पौरुषं प्राहुः कालमेके यतोभयम्।
अहंकारविमूढस्य कर्त्तुः प्रकृतिमीयुषः" ॥
"प्रकृतेर्गुणसाम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि !
चेष्टा यतः स भगवान् कालइत्युपलक्षितः ॥"
"अन्तःपुरुषरूपेण कालरूपेण यो बहिः।
समन्वेत्येष सत्वानां भगवानात्ममायया ॥"
(श्री० भा० ३, २६, १८)

ईश्वरकृष्णीय सांख्य निरीश्वरवादी और भागतसांख्य ईश्वरवादी है-यही इन दोनों का मतभेद है, कोई कहते हैं पूर्व सांख्य का प्रकृति और पुरुष के विवेक में ही तात्पर्य है, किन्तु ईश्वर के खण्डन में नहीं, इसी से उतने को ही दिखाया है, यह ठीक भी है। क्योंकि-वैदिक पुरुष का निरीश्वरवादी होना असंभव है।

समर्पणम्

"येन शुक्लेन महता सर्वं शुक्लीकृतं जगत्।
विद्यया मुनये तस्मै कृतिर्मेऽस्तुसमर्हणम् ॥"

कार्तिक शुक्ला १५ } विद्वद्वशंवद-
सं० १९७३ वि० } सीतारामशर्मा

हिन्दी-सांख्य दर्शन

(सांख्य—पदार्थ)

—:-o:-—

(१) तत्वों का संक्षेप—(१) प्रकृति (२ पुरुष)

व्याख्या—

(क) (१) अव्यक्त (२) व्यक्त (३) पुरुष ।

(ख) (१) प्रकृति (२) महत्तत्व (३) अहंकार (४) मन (५) चक्षुः (६) श्रोत्र (७) घ्राण (८) रसन (९) त्वक् (१०) वाक् (११) हस्त (१२) पाद (१३) उपस्थ (१४) गुद (१५) शब्द (१६) स्पर्श (१७) रूप (१८) रस (१९) गन्ध (२०) आकाश (२१) वायु (२२) तेज (२३) जल (२४) पृथ्वी (२५) पुरुष ।

(२) करण–(१) महत्तत्व (बुद्धि) (२) अहंकार (अभिमान) (३) मन (४) चक्षुः (नेत्र) (५) श्रोत्र (कान) (६) घ्राण (नांक) (७) रसन (जिह्वा) (८). त्वक् (चर्म) (९) वाक् (वाणी) (१०) पाणि (हाथ) (११) पाद (पैर) (१२) पायु (गुदा) (१३) उपस्थ (लिङ्ग या योनि) ।

(३) अन्तःकरणत्रय–(१) बुद्धि (२) अहंकार (३) मन ।

(४) इन्द्रियें--(१) मन (२) चक्षुः (३) श्रोत्र (४) घ्राण (५) रसन (६) त्वक् (७) वाक् (८) पाणि (९) पाद (१०) पायु (११) उपस्थ ।

(५) ज्ञानेन्द्रियें--(१) चक्षुः (२) श्रोत्र (३) घ्राण (४) रसन (५) त्वक् ।

(६) कर्मेन्द्रियें--(१) वाक् (२) पाणि (३) पाद (४) पायु (५) उपस्थ ।

(७) ज्ञानकर्मेन्द्रिय--(१) मन ।

(८) ज्ञानेन्द्रियों की वृत्तियें--(१) दर्शन (देखना) (२) श्रवण (सुनना) (३) घ्राण (सूंघना) (४) आस्वादन (चाखना) (५) स्पर्श (छूना)

(९) कर्मेन्द्रियों की वृत्तियें (क्रियाएँ)--(१) वचन (बोलना) (२) आदान (लेना) (३) विहरण (चलना) (४) उत्सर्ग (त्यागना) (५) आनन्द ।

(१०) अन्तःकरणत्रय की वृत्तियें-- (१) प्राण (२) अपान (३) समान (४) उदान (५) व्यान, ये शरीर के भीतर रहने वाले पांच वायु हैं ।

(११) बुद्धि की वृत्ति--(१) अध्यवसाय (निश्चयरूपज्ञान)

(१२) अहंकार की वृत्ति--(१) अभिमान ।

(१३) मन की वृत्ति— (१) संकल्प ।

(१४) तन्मात्र— (१) शब्द (२) स्पर्श (३) रूप (४) रस (५) गन्ध ।

(१५) भूत (महाभूत)—(१) आकाश (२) वायु (३) तेज (४) जल (५) पृथिवी ।

(१६) अव्यक्त— (१) मूल प्रकृति (प्रकृति = प्रधान = परमाव्यक्त) ।

(१७) व्यक्त—(१) महत्तत्व (२) अहंकार (३) मन (४) चक्षुः (५) श्रोत्र (६) घ्राण (७) रसन (८) त्वक् (९) वाक् (१०) पाणि (११) पाद (१२) पायु (१३) उपस्थ (१४) शब्द (१५) स्पर्श (१६) रूप (१७) रस (१८) गन्ध (१९) आकाश (२०) वायु (२१) तेज (२२) जल (२३) पृथिवी ।

(१८) प्रमाण- (१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) शब्द ।

(१९) गुण - (१) सत्व (२) रजः (३) तमः ।

(२०) गुणों के स्वरूप- (१) सत्व सुखरूप, (२) रज दुःख रूप, (३) तम मोहरूप ।

(२१) गुणों के प्रयोजन-(१) सत्व का प्रकाश करना (२) रज का प्रवृत्ति (३) तम का नियमन करना या रोकना ।

(२२) केवल-अविकृति- (१) प्रकृति ।

(२३) केवल-विकृति- (१) मन (२) चक्षु (३) श्रोत्र (४) घ्राण (५) रसन (६) त्वक् (७) वाक् (८) पाणि (९) पाद (१०) पायु (११) उपस्थ (१२) आकाश (१३) वायु (१४) तेज (१५) जल (१६) पृथिवी ।

[२४] प्रकृति-विकृति–(१) महत्तत्व (२) अहंकार (३) शब्द (४) स्पर्श (५) रूप (६) रस, (७) गन्ध ।

[२५] अप्रकृति-अविकृति–(१) पुरुष ।

[२६] भाव–(१) धर्म (२) अधर्म (३) ज्ञान (४) अज्ञान (५) वैराग्य (६) अवैराग्य (७) ऐश्वर्य्य (८) अनैश्वर्य्य ।

[२७] बुद्धिका संक्षिप्त सर्ग [सृष्टि]–(१) विपर्यय (२) अशक्ति (३) तुष्टि (४) सिद्धि ।

[२८] बुद्धि का विस्तृत सर्ग– ८ विपर्यय, २८ अशक्तियें, ६ तुष्टियें ८ सिद्धियें (कुल ५०) ।

व्याख्या

(क) विपर्यय–(१) अविद्या (तम) (२) अस्मिता (मोह) (३) राग (महामोह) (४) द्वेष (तामिस्त्र) (५) अभिनिवेश (अन्धतामिस्त्र) ।

अविद्या या तम आदि के भेद ।

(अ) अविद्या के भेद–(१) अव्यक्त (२) महत्तत्व (३) अहंकार (४) शब्द (५) स्पर्श (६) रूप (७) रस (८) गन्धतन्मात्र, इन आठ तत्वों में आत्म बुद्धिरूप अविद्या आठ प्रकार की होती है ।

(आ) अस्मिता के भेद–(१) अणिमा (२) लघिमा (३) गरिमा (४) महिमा (५) प्राप्ति (६) प्राकाम्य (७) वशित्व (८) ईशित्व । इन सिद्धियों की प्राप्ति से यह अभिमान होना कि-

यह अणिमा आदि हमारा सदाका ऐश्वर्य्य है, तद्रूप अस्मिता ८ प्रकार की होती है।

(ङ) राग के भेद-[५दिव्य] (१) शब्द (२) स्पर्श (३) रूप (४) रस (५) गन्ध [५ अदिव्य] (६) शब्द (७) स्पर्श (८) रूप (९) रस (१०) गन्ध।

(छ) द्वेष के भेद--(१० रागों के द्वेष और आठ सिद्धियों के द्वेष मिल कर १८ द्वेष होते हैं। अर्थात्-दिव्य अदिव्य भेद से १० प्रकार के शब्द आदि विषय परस्पर से उपहत होकर द्वेष के विषय होते हैं या इन पर द्वेष होता है, अतः द्वेष १० प्रकार का होता है, तथा ८ अणिमा आदि सिद्धियें स्वरूप से ही [अपने आप ही] कोपनीय होती हैं या इनपर कोप होता है, अतः इनके कारण से द्वेष भी ८ प्रकार का होता है। इस प्रकार द्वेष १८ प्रकार का है।

(ज) अभिनिवेश के भेद--अणिमा आदि ८ ऐश्वर्य और शब्द आदि १० विषय, कुल १८ विषयों या उपायों को प्राप्त हो कर देवताओं को भय होता है कि इन्हें असुर न छीनलें, इस प्रकार भय का विषय १८ प्रकार का होने से भय या अभिनिवेश १८ प्रकार का होता है।

(६)

(ख)अशक्तिएं—[११ इन्द्रियवधजन्य-] (१) मन्दता

(७) (८) (९)

(२) अन्धता (३) वधिरता (४) अजिघ्रता

(१०) (११) (१२)
(५) जडता (६) कुण्ठिता (७) मूकता (८)
(१३) (१४) (१५)
कौराय (९) पंगुता (१०) क्लैब्य (११)
(१६) (१७)
उदावर्त [१७ बुद्धिवधजन्य] (१२) प्रकृति-
(१८)
विपरीता (१३) उपादानविपरीता (१४)
(१९) (२०)
कालविपरीता (१५) भाग्यविपरीता (१६)
(२१) (२२)
पारविपरीता (१७) सुपारविपरीता (१८)
(२३) (२४)
पारापारविपरीता (१९) अनुत्तमाम्भोविपरीता
(२५) (२६)
(२०) उत्तमाम्भोविपरीता (२१) अध्ययन-
(२७) (२८)
विपरीता (२२) शब्दविपरीता (२३) ऊह-
(२९)
विपरीता (२४) सुहृत्प्राप्तिविपरीता (२५)
(३०) (३१)
दानविपरीता (२६) आध्यात्मिकदुःखनाश-
(३२)
विपरीता (२७) आधिभौतिकदुःखनाशविपरीता
(३३)
(२८) आधिदैविकदुःखनाशविपरीता ।
(३४)
(ग) तुष्टियें—[४ आध्यात्मिकतुष्टियें-] (१) प्रकृति
(३५) (३६) (३७)
(२) उपादान (३) काल (४) भाग्य [५
(३८
बाह्यतुष्टियें] (५) अर्जनदोषदर्शनजन्य-

(३९)
विषयोपरमजन्या (६) रक्षणदोषदर्शनजन्य-
(४०)
विषयोपरमजन्या (७) क्षयदोषदर्शनजन्य-
(४१)
विषयोपरमजन्या (८) भोगदोषदर्शनजन्य-
(४)
विषयोपरमजन्या (९) हिंसादोषदर्शन-
जन्यविषयोपरमजन्या ।

(४३) (४४) (४५)
(घ) सिद्धियें-(१) अध्ययन (२) शब्द (३) ऊह
(४६) (४७) (४८)
(४) सुहृत्प्राप्ति (५) दान (६) आध्यात्मिक-
(४९)
दुःखनाश (७) आधिभौतिकदुःखनाश (८)
(५०)
आधिदैविक दुःखनाश ।

(२९) दूसरे प्रकार से विपर्यय-(१) अज्ञान ।

(३०) दूसरे प्रकार से अशक्ति के भेद-(१) अनैश्वर्य्य (२) अवैराग्य (३) अधर्म ।

(३१) दूसरे प्रकार से तुष्टि के भेद—(१) धर्म (२) वैराग्य (३) ऐश्वर्य ।

(३२) दूसरे प्रकार से सिद्धि-(१) ज्ञान ।

[३३] तीन दुःख-(१) आध्यात्मिक (२) आधिभौतिक (३) आधिदैविक ।

[३४] आध्यात्मिकदुःख के भेद- (१) शारीर (शरीर में बात पित्त और कफके घटने तथा बढ़ने

से होने वाला दुःख) (२) मानस (मनमें काम क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या, विषाद आदि से होने वाला दुःख)।

[३५] आधिभौतिकदुःख- मनुष्य, पशु, पक्षी, सर्प आदि से होने वाला दुःख।

[३६] आधिदैविकदुःख-यक्ष, राक्षस, पिशाच आदि से होने वाला दुःख।

(३७) व्यक्त के धर्म- (१) हेतुमत्त्व (सकारणता) (२) अनित्यत्व (३) अव्यापकत्व (४) क्रियावत्त्व (५) नानात्व (६) आश्रितत्व (७) लिङ्गत्व (८) सावयवत्व (९) परतन्त्रत्व।

[३८] अव्यक्त के धर्म- (१) कारणशून्यत्व (२) नित्यत्व (३) व्यापकत्व (४) अक्रियत्व (५) एकत्व (६) अनाश्रितत्व (७) अलिङ्गत्व (८) निरवयवत्व (९) स्वतन्त्रत्व।

[३९] व्यक्त अव्यक्त के साझे के धर्म- (१) त्रिगुणत्व (२) अविवेकित्व (३) विषयत्व (४) सामान्यत्व (५) अचेतनत्व (६) प्रसवधर्मित्व।

(४०) पुरुष के धर्म-(१) अत्रिगुणत्व (२) विवेकित्व (३) अविषयत्व (४) असामान्यत्व (५) चेतनत्व (६) अप्रसवधर्मित्व (७) कारणशून्यत्व (८) नित्यत्व (९) व्यापकत्व (१०) निष्क्रियत्व (११) अनाश्रितत्व (१२) अलिङ्गत्व (१३) निरवयवत्व (१४) स्वतन्त्रत्व (१५) नानात्व (१६) साक्षित्व (१७) द्रष्टृत्व (१८)

केवलत्व (१९) मध्यस्थत्व (२०) अकर्तृत्व ।

(४१) चार वैराग्य-(१) यतमानसंज्ञा (२) व्यतिरेक संज्ञा (३) एकेन्द्रियसंज्ञा (४) वशीकारसंज्ञा ।

(४२) सूक्ष्म शरीर के १८ तत्व-(१) महत्तत्व (बुद्धि) (२) अहंकार (३) मन (४) चक्षुः (५) श्रोत्र (६) घ्राण (७) रसन (८) त्वक् (९) वाक् (१०) पाणि (११) पाद (१२) गुदा (१३) उपस्थ (१४) शब्दतन्मात्र (१५) स्पर्शतन्मात्र (१६) रूपतन्मात्र (१७) रसतन्मात्र (१८) गन्धतन्मात्र ।

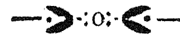
(४३) षट्कोष—[तीनमातासे] (१) लोम रोम) (२) लोहित (रक्त) (३) मांस [तीन पिता से] (४) स्नायु (सूक्ष्मनाड़ी) (५) अस्थि (हाड़) (६) मज्जा (चर्बी)।

(४४) देवसर्ग--(देवताओं की उत्पत्ति) (१) ब्राह्म (ब्रह्मका) (२) प्राजापत्य (प्रजापति का) (३) ऐन्द्र (इन्द्र का) (४) पैत्र (पितरों का) (५) गान्धर्व (गन्धर्वों का) (६) याक्ष (यक्षों का) (७) राक्षस (राक्षसों का) (८) पैशाच (पिशाचों का)।

(४५) तिर्यग्योनिसर्ग— (१) मनुष्य (२) मृग (३) पक्षी (४) सरीसृप(५) स्थावर (वृक्ष-आदि) ।

(४६) मनुष्य सर्ग-- (१) मनुष्य ।

(४७) राजवार्तिक ग्रन्थ के ६० पदार्थ-(प्रधानमेंरहने वाले)(१) एकत्व(२) अर्थवत्व (३) परार्थता [पुरुष में रहने वाले] (४) अन्यत्व (५)अकर्तृत्व (६) बहुत्व [उभय गत या प्रधान और पुरुषदोनोंमें रहने वाले] (७) अस्तित्व (८) योग (९) वियोग [स्थूल सूक्ष्म में रहने वाले] (१०) स्थिति ५ विपर्यय, ८ सिद्धियें, ९ तुष्टियें, २८ अशक्तियें (६०)।



श्रीः

हिन्दी-सांख्य दर्शन

विद्याप्रदं गुरुं नत्वा तथा रुद्रं कृपाकरम् ।
ऐश्वरकृष्णसांख्यस्य हिन्दीभाषां करोम्यहम् ॥

सांख्यशास्त्र में प्रवृत्ति का कारण

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥१॥

(क) क्योंकि—सांख्यशास्त्रीयतत्वों के ज्ञान से तीनों दुःखों की निवृत्ति होती है, अतः उसमें पुरुष की प्रवृत्ति होती है। अथवा तीनों दुःख विनाशी हैं, या उनका विनाश देखा जाता है, अतः उनके नाश के हेतु (सांख्य शास्त्र के तत्वों के ज्ञान) में इच्छा होती है।

(ख) यदि कहा जावे कि-लौकिक उपाय से तीनों दुःखों का नाश होता है, अतः सांख्य शास्त्र में इच्छा व्यर्थ है? ठीक नहीं, क्योंकि-उस दृष्ट उपाय से ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति नहीं होती। अवश्य ही होने वाली दुःखनिवृत्ति ऐकान्तिक दुःखनिवृत्ति, और जो दुःखनिवृत्ति होकर फिर निवृत्त नहीं होती वह आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति कहलाती है। १॥

वैदिक उपाय की अनुपायता।

दृष्टवदानुश्रविकः सह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः ।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥२॥

(क) आनुश्रविक या वैदिक उपाय भी दृष्ट उपायके स-

मान है। क्योंकि-वह अविशुद्धि, क्षय और अतिशय दोषों से युक्त है।

(ख) श्रेयान् या दुःखध्वंसरूप मोक्ष या वास्तविक कल्याण उससे (अविशुद्धि आदि दोष वाले से) विपरीत है। अर्थात् अविशुद्धि आदि दोष से रहित है, सुतराम् वह दोष युक्त उपाय का साध्य नहीं, तथा व्यक्त अव्यक्त और ज्ञ (पुरुष) के विज्ञान से होता है ॥ २ ॥

शास्त्र का संक्षिप्त अर्थ।

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयःसप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्नविकृतिःपुरुषः ॥३॥

(क) मूलप्रकृति (प्रधान) अविकृति (अकार्य) है।

(ख) महत् आदि ७ पदार्थ (महत्तत्व, अहंकार, शब्द स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) प्रकृति विकृति या कार्य कारण रूप हैं।

(ग) सोलह (१६) पदार्थ (५ ज्ञानेन्द्रियें, ५ कर्मेन्द्रियें १ मन, ५ महाभूत आकाश आदि) विकाररूप हैं।

(घ) पुरुष न प्रकृति (कारण) है, और न विकृति कार्य है ॥ ३ ॥

प्रमाण और उसके भेद

(क) प्रमा का साधन प्रमाण होता है। अर्थात्-जिस वस्तु की सहायता से पुरुष को यथार्थ ज्ञान होता है, वह वस्तु प्रमाण कहलाती है।

दृष्टमनुमानमाप्तवचनंच, सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं, प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥४॥

(क) प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण होते हैं सांख्य लोगों का अभिमान है, कि-और सब उपमान आदि प्रमाणों का इन तीन ही प्रमाणों में अन्तर्भाव हो जाता है। यहां प्रत्यक्षका नाम 'दृष्ट' और शब्द प्रमाण का 'आप्तश्रुति' नाम लिया गया है ।

(ख) प्रमाण का निरूपण इस लिये किया गया है कि प्रमेय वस्तु का यथार्थ ज्ञान प्रमाण से होता है यहां 'प्रमेय' नाम प्रकृति आदि २५ तत्वों का है ।

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के लक्षण

प्रतिविषयाध्यवसायोदृष्टं, त्रिविधमनुमानमाख्यातम्।
तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनन्तु ॥५॥

(क) प्रतिविषय नाम अपने विषय के साथ मिला हुआ इन्द्रिय, उससे उत्पन्न होने वाला (अध्यवसाय) ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान होता है । इस ज्ञान का उत्पन्न करने वाला साधन इन्द्रियरूप प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है ।

(ख) लिङ्ग (व्याप्य या अल्प देश में रहने वाली वस्तु) और लिङ्गी (व्यापक या अधिक देश में रहने वाली वस्तु) के ज्ञानको अवलम्बन करके अनुमान प्रमाण होता है, अथवा व्याप्ति का ज्ञान अनुमान प्रमाण है । अर्थात्-दो सम्बन्धियों में से एक सम्बन्धी का ज्ञान होना अनुमान प्रमाण है, और उससे दूसरे सम्बन्धी का ज्ञान होना उसका प्रयोजन है । जैसे पीलवान के ज्ञान से हाथी का ज्ञान । यहां पीलवान का ज्ञान अनुमान प्रमाण है, और हाथीका ज्ञान (अनुमिति) उस का प्रयोजन है । ऐसे ही धूम के ज्ञानसे अग्नि के ज्ञान को भी समझना । यह अनुमान प्रमाण तीन प्रकार का है ।

(ग) आप्तश्रुति (आप्तवाक्य) या प्रामाणिक पुरुष का वाक्य शब्द प्रमाण होता है ॥ ५ ॥

प्रमाणों का विषय भेद

सामान्यतस्तुदृष्टात् अतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्
तस्मादपिचासिद्धं परोक्षमाप्तागमात्सिद्धम् ॥६॥

(क) प्रत्यक्ष प्रमाण (इन्द्रिय) का विषय घट (घड़ा) पट (वस्त्र) एवम् पृथिवी आदि है ।

(ख) अनुमान प्रमाण से अतीन्द्रिय या प्रत्यक्ष के अविषय (पर्वतादि देशस्थ अग्नि आदि) पदार्थों की प्रतीति होती है ।

(ग) और उस अनुमान प्रमाण से भी असिद्ध परोक्ष (महत् तत्व आदि या स्वर्ग अदृष्ट आदि) पदार्थों की सिद्धि शब्द प्रमाण से होती है ॥६॥

विद्यमान विषय में भी प्रत्यक्ष प्रमाण की अप्रवृत्ति के कारण ।

अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्
सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिभवात्समानाभिहाराच्च ७

अति दूर होने से विद्यमान वस्तु भी प्रतीत नहीं होती जैसे आकाश में उड़ता हुआ पक्षी अति दूर हो जाने पर रहता हुआ भी नहीं दिखाई देता । (१) अत्यन्त समीप होने से भी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता । जैसे नेत्र का अञ्जन । (२) इन्द्रिय का घात हो जाने से प्रत्यक्ष नहीं होता । जैसे अन्धता (आंधेपन) बधिरता (बहरेपन) से दर्शन श्रवण नहीं होता (३) मन के अनवस्थान या अन्य विषय में लग जाने से

प्रत्यक्ष नहीं होता। जैसे काम आदि से जिस का मन किसी विषय में लग जाता है और उसे अच्छे प्रकाश में निकट वस्तु भी नहीं दिखाई देती। (४) अत्यन्त सूक्ष्म होने से भी वस्तु प्रत्यक्ष नहीं होती। जैसे पृथिवी आदि के परमाणु नेत्र के समीप भी रहते हैं, किन्तु वे सूक्ष्मता के कारण दिखाई नहीं देते। (५) व्यवधान या किसी वस्तु के बीच में आने से वस्तु प्रतीत नहीं होती। जैसे दीवार आदि के बीच में आजाने से राजा की राणी आदि दिखाई न दे। (६) अभिभव या तिरस्कार से प्रत्यक्ष नहीं होता। जैसे दिन में सूर्य की किरणों से तिरस्कृत होने के कारण ग्रह नक्षत्र नहीं दिखाई देते। (७) समानाभिहार या समान वस्तु में मिल जाने से प्रत्यक्ष नहीं होता। जैसे जलाशय में मेघ से गिरे हुये जल के बिन्दु नहीं दिखाई देते। (८) इस श्लोक में जो "च" कार दिया है, इस से अनुद्भव (अप्रकटता) भी यहां समझना। जैसे दूध आदि की अवस्था में दही आदि को नहीं देखता।६।

प्रधान आदि के प्रत्यक्ष न होने का कारण

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात्, कार्यतस्तदुपलब्धेः
महदादि तच्चकार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपंच ॥ ८ ॥

सूक्ष्मता के कारण प्रधान आदि वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं होता है, किन्तु उनके अभाव या न होने से नहीं। क्योंकि उनकी उपलब्धि कार्य से होती है, और वह कार्य महत् आदि है, जो प्रकृति के समान रूप और विलक्षण रूपवाला है ॥८॥

सत्कार्यवाद के साधक

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात् ।

शक्तस्य शक्यकरणात्, कारणभावाच्च सत्कार्यम् ।९।

(क) असत् (जो पहिले से नहीं है) कार्य को कोई कर नहीं सकता, इस से कार्य अपनी उत्पत्ति से पहिले भी सत् होता है ।

(ख) कार्य और कारण के सम्बन्ध से कार्य होता है, और असत् कार्य का कारण के साथ सम्बन्ध हो नहीं सकता, अतः कार्य अपनी उत्पत्ति से पहिले भी विद्यमान है ।

(ग) सब कार्यों का सब स्थानों में सम्भव नहीं, अर्थात् यदि विना हुआ भी कार्य उत्पन्न हो, तो उसे सब स्थानों में होना चाहिये, किन्तु ऐसा संभव नहीं, अतः कार्य अपनी उत्पत्ति से पहिले भी सत् है

(घ) शक्त या शक्तिमान् कारण शक्य को बनाता है, और शक्त कारण का अविद्यमान कार्य शक्य नहीं हो सकता । क्योंकि कार्य को देखकर ही कारण की शक्ति होती है, अतः कार्य अपनी ०—० ।

(ङ) और कार्य कारण भाव से भी कार्य सत् है, अर्थात् कारण का कारणत्व कार्य की कार्यता से ही निरूपित होता है, और असत् कार्य से कारणत्व कल्पित नहीं हो सकता, अतः कार्य ०—० ।

व्यक्त और अव्यक्त का साधर्म्य और वैधर्म्य ।

हेतुमदनित्यमव्यापिसक्रियमनेकमाश्रितंलिङ्गम् ।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं, विपरीतमव्यक्तम् ॥ १०॥

व्यक्त (महत् आदि) के धर्म । हेतुमान् (सकारण) । अनित्य । अव्यापक । क्रियावान् । अनेक (नाना) । आश्रि-

है (दूसरे में रहने वाला)। लिङ्ग (दूसरे का अनुमान कराने वाला)। सावयव (अवयवों या भागों वाला) और परतन्त्र (पराधीन)।

अव्यक्त या मूल-प्रकृति उससे विपरीत होती है। अर्थात्- कारणशून्य (उसका कोई कारण नहीं), नित्य, व्यापक, निष्क्रिय, एक, अनाश्रित (किसी आधार में नहीं रहने वाली) अलिङ्ग (किसी वस्तु का अनुमान न कराने वाली), निरवयव (उस में कोई अवयव या भाग नहीं हैं) और स्वतन्त्र या स्वाधीन है।

व्यक्त अव्यक्त दोनों का साधर्म्य(समानधर्मता)
और उन से पुरुष का वैधर्म्य
(विरुद्ध धर्मता)।

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथाच पुमान् ॥११॥

(क) व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही त्रिगुण, अविवेकी, विषय, सामान्य, अचेतन और प्रसवधर्मी हैं।

(ख) और पुरुष उन दोनों (व्यक्त और अव्यक्त) से विलक्षण अर्थात्-अत्रिगुण, विवेकी, अविषय, असामान्य, चेतन और अप्रसवधर्मी है। तथा नित्यत्व, स्वतन्त्रत्व, कारणशून्यत्व, व्यापकत्व, निष्क्रियत्व, अनाश्रितत्व, अलिङ्गत्व, और निरवयवत्व, – इन विशेषणों से प्रकृति के सदृश और अनेकता से व्यक्त (महत् आदि) के सदृश है॥ ११ ॥

तीन गुण और उन के लक्षण

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्चगुणाः १२।

(क) सत्वगण प्रीतिरूप या सुखरूप और प्रकाश के अर्थ है

(ख) रजोगुण अप्रीति या दुःखरूप और प्रवृत्तिके अर्थ है।

(ग) तमोगुण विषाद या मोहरूप और नियम (प्रतिबन्ध) के लिये होता है।

(घ) तीनों गुणों में प्रत्येक गुण की अन्य दो गुणों का अभिभव (तिरस्कार) करना, आश्रयण (दूसरे में रहना) करना, परिणामके अभिमुख (संमुख) करना और सहचार (संग रहना) करना वृत्तियें (क्रियायें) हैं ॥ १२ ॥

गुणों के प्रकाश आदि प्रयोजनों के हेतु

सत्वं लघुप्रकाशकमिष्टम्, उपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥१३॥

(क) सत्वगुण लघु (हलका) होता है, अतएव (अग्नि के ऊर्द्ध्व ज्वलनका वायु के तिर्यक् गमन (तिरछा चलने) का और) इन्द्रियों में अर्थों (वस्तुओं) के प्रकाशन शक्ति का हेतु होता है।

(ख) रजोगुण चल होता है, (अतएव प्रवर्त्तक होता है)

(ग) तमोगुण गुरु (भारी) होता है। अतएव आवरण (नियमन = अवरोध) करने वाला होता है।

(घ) "अर्थतः" पुरुषार्थ (जीवों के अदृष्ट) वश परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले भी गुणों की दीपक, तैल, वत्ती और अग्नि के तुल्य समान कार्य में प्रवृत्ति होती है ॥१३॥

सत्व आदि गुणों में अविवेकित्व आदि की सिद्धि
और उसके लिये प्रधान की सिद्धि

अविवेक्यादेः सिद्धिस्त्रैगुण्यात्तद्विपर्ययाभावात्।

कारणगुणात्मकत्वात्कार्यस्याव्यक्तमपिसिद्धम्॥१४॥

(क) सत्व आदि गुण अविवेकित्व, विषयत्व और अचेतनत्व धर्म वाले हैं। क्यों कि ये सब त्रिगुण हैं। जो २ त्रिगुण वस्तु देखी जाती है, वह २ सब अविवेकि आदि ही है, इस के अतिरिक्त यह भी है कि जहां आत्मा या पुरुष में अविवेकित्व आदि धर्म नहीं है, वहां यह तीनों गुण भी नहीं हैं।

(ख) यदि कहा जावे कि अव्यक्त हो, तो उससे उत्पन्न होने वाले इन तीनों गुणों में अविवेकित्व आदि सिद्ध हो सकता है, किन्तु अभी अव्यक्त ही सिद्ध नहीं हुआ है? इस पर कहा जा सका है, कि कार्य को कारण गुणात्मक होने से अव्यक्त भी सिद्ध होता है। अर्थात् महत् आदि सब कार्य गुण वाले हैं, और कार्य में गुणों की अनुवृत्ति (आगम) कारण से ही होती है। जैसे नील वस्त्र में उस के कारण नील तन्तुओं से ही नील रूप की अनुवृत्ति होती है, अतः महत् आदि कार्यों में गुणों की अनुवृत्ति के अर्थ उनका कोई कारण होना चाहिये। इस रीति से उन का कारण सिद्ध होता है, तथा वही अव्यक्त है॥ १४॥

अव्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति।

माना भी जावे कि इस रीति से अव्यक्त सिद्ध हो गया, तथापि आपत्ति हो सकती है कि जिस प्रकार न्याय वैशेषिक के आचार्यों ने व्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति मानी उसी प्रकार यहां भी मानना चाहिये। अर्थात् गौतम और कणाद मुनि मानते हैं कि परमाणु व्यक्त हैं, उन्ही से द्व्यणुक, उससे त्र्यणुक इत्यादि क्रम से महापृथिवी पर्यन्त सब जगत् उत्पन्न हो जाता है, तथा पृथिवी आदि में उन के कारणों के गुणों की

अनुवृत्ति ही आती है। अतः व्यक्त से ही व्यक्त और उस का गुण उत्पन्न होता है, अव्यक्त रूप कारण की कल्पना व्यर्थ है? इस आपत्ति पर यह कारिका—

भेदानां परिमाणात् समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च।
कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूप्यस्य ॥१५॥
कारणमस्त्यव्यक्तम् प्रवर्त्ततेत्रिगुणतः समुदयाच्च।
परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्

(क) भेदों (महत् आदिकों) का कारण अव्यक्त है। क्योंकि-कछुवे के अङ्गों का उसके शरीर के साथ विभाग और अविभाग होता है, ऐसे ही कारण में विद्यमान रहते हुये ही कार्य के कारण से विभाग और अविभाग होते हैं।

(ख) कारण की शक्ति से कार्य प्रवृत्त होता है, और कारणमें शक्ति कार्यकी अव्यक्तारूप ही होती है। सत्कार्य पक्ष में कार्य की अव्यक्तता ×(अप्रकटता) से भिन्न कारण की कोई शक्ति नहीं। जैसे तिलों से उनमें रहता हुआ ही तैल प्रकट होता है, किन्तु बालू से नहीं।

(ग) महत्तत्व को ही परम अव्यक्तता क्यों नहीं? परिमित या अव्यापी होने से वह अव्यक्त कारण वाला है। क्योंकि जो २ वस्तु परिमित होती है वह सब अव्यक्त कारण वाली होती है। जैसे घट (घड़ा) आदि। और—

× अव्यक्तता नाम अज्ञात सत्ता का है। जैसे अँधेरे में कोई वस्तु रहे, और हम उसे न देखें, किन्तु इस से उस का वहां अभाव नहीं होता। इसी प्रकार सब कार्य अपनी उत्पत्तिसे पहिले अपने कारण में अप्रकटरूप से रहते उनका वहां अभाव नहीं होता। इसी अज्ञात सत्ताको अव्यक्तता कहते हैं

(घ) समन्वय या भिन्न वस्तुओं की समान रूपता होने से महत् आदिकों का कारण अव्यक्त है। जैसे घट कुण्डल आदिकों के कारण मृत्तिका-पिण्ड, सुवर्ण-पिण्ड आदि अव्यक्त हैं ॥ १५ ॥

अव्यक्त की प्रवृत्ति का प्रकार।

अव्यक्त की प्रवृत्ति दो प्रकार से है। एक सृष्टिकाल की और दूसरी प्रलयकाल की। सृष्टिकाल में अव्यक्त (प्रकृति) के तीनों गुण मिलकर प्रवृत्त होते हैं, और वे उस समय आपस में कोई गौण और कोई मुख्य हो जाते हैं। क्योंकि-गौण मुख्य भाव के विना अनेक पदार्थों की मिलकर प्रवृत्ति नहीं हो सकती। तथा अपनी गौणता, मुख्यता के लिये वे न्यून अधिक हो जाते हैं, एवम् न्यूनाधिक भाव के लिये वे परस्पर में कोई उपमर्दक और कोई उपमर्दनीय हो जाते हैं। इसी प्रकार प्रलयकाल में अव्यक्त के तीनों गुण परस्पर से पृथक् होकर स्वतन्त्रता से अपने२ स्वरूप से ही प्रवृत्त होते हैं, इसी से सब कार्य जो अनेकतत्वों के मेल से बने हुये हैं, वे नष्ट हो जाते हैं या अपने अव्यक्त कारण में लीन हो जाते हैं। मानों कि-यह शरीर पांच भूतों से बना है, और पांचों पृथिवी आदि भूत अलग २ हो जावें, तो यह शरीर नष्ट ही हो।

एक अव्यक्त से विचित्र २ कार्यों की उत्पत्ति।

एक २ गुण के भिन्न २ मात्राओं के संमेलन से जल के समान नाना परिणाम होते हैं। जैसे मेघ का जल एक मधुर रस वाला ही नारियल और बिल्व आदिकों में नाना रस वाला हो जाता है ॥ १६ ॥

पुरुष या आत्मा की सिद्धि।

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थंप्रवृत्तेश्च ॥१७॥

व्यक्त (शरीर आदि) और अव्यक्त (मूल प्रकृति) से भिन्न पुरुष है। क्योंकि—

(क) जो २ वस्तु संघात रूप है, अर्थात् अनेक वस्तुओं से मिल कर बनी है, जैसे शय्या आसन आदि, वह सब दूसरे के अर्थ देखी जाती है, ऐसे ही ये महत् तत्व और शरीर आदि हैं, इस लिये ये पर के अर्थ हैं। जो पर वस्तु है, वही आत्मा (पुरुष) है।

संघात दूसरे संघात के लिये नहीं।

ऐसा प्रश्न हो सकता है कि-एक संघात रूप वस्तु दूसरे संघात के लिये मान ली जावे, तो अन्य पुरुष वस्तु की कल्पना न करना पड़े? इस का उत्तर यह है कि-यदि एक संघात दूसरे संघात के लिये माना जावेगा, तो वह भी संघात है, उस की परार्थता के लिये तीसरा संघात मानना होगा, एवम् उस की परार्थता के अर्थ ४था संघात कल्पित करना होगा। सुतराम् संघात को दूसरे संघात की अपेक्षा रहने से उसकी संख्या पूरी न होगी। इसे अनवस्था दोष कहते हैं। इसी के कारण उक्त प्रश्न नहीं उठ सकता, अतः संघात असंघात रूप पुरुष के अर्थ ही मानने से सुगति होती है।

दूसरा हेतु यह है कि जो २ त्रिगुण रथ आदि संघात हैं, वे सब दूसरे से अधिष्ठित या दूसरे के वश में रहते हुये देखे जाते हैं, अतः उन के समान त्रिगुण महत्तत्व और शरीर आदि के लिये भी दूसरे अधिष्ठाता की अपेक्षा होती है एवम् अधिष्ठित के अधिष्ठाता के रूप में पुरुष सिद्ध होता है।

तीसरा हेतु यह है कि-जो२ त्रिगुण संघात शय्या आसन आदि हैं, वे सब भोग्य वस्तु हैं, अतः उन्हें अपने से विलक्षण (अत्रिगुण) भोक्ता की अपेक्षा रहती है। एवम् उन भोग्य वस्तुओं के भोक्ता रूप से पुरुष की सिद्धि होती है।

४ था हेतु यह है कि महत्तत्व और शरीर आदि, जितने प्रकृति से उत्पन्न हुये संसार में पदार्थ हैं, वे सब सुख, दुःख और मोह रूप हैं, अतः सुख को अनुकूलनीय या सुखी करने के लिये, दुःख को प्रतिकूलनीय या दुःखित करने के लिये, तथा मोह को मोहित करने के लिये दूसरे २ की अपेक्षा होती है। क्योंकि–सुख आदि सुख आदि को ही सुखित दुःखित तथा मोहित नहीं कर सकता। सुतराम् उन से विलक्षण सुखी आदि होने वाला दूसरा पदार्थ (पुरुष) सिद्ध होता है।

५वां हेतु सब से अधिक या बलवान् यह है कि शास्त्र कैवल्य या मोक्ष की प्रतिपादन करते हैं, और महापुरुष उस के लिये यत्न करते आये हैं। यदि संघात ही संघात है, तो फिर उस से अलग होने की इच्छा किस को हो और उससे वह अलग हो भी कैसे सकता है। सुतराम्-आत्मा संघात से अलग पदार्थ है॥ १७॥

पुरुष (आत्मा) बहुत हैं।

पुरुष है,–यह प्रतिपादन किया गया, अब यह प्रश्न है कि–क्या वह पुरुष सब शरीरों में एक है, या प्रति शरीर अलग २? इस के उत्तर में प्रति शरीर पुरुष अलग २ है, यह प्रतिपादन करने के लिये कहते हैं—

जननमरणकरणानां प्रतिनियमाद् युगपत्प्रवृत्तेश्च पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥ १८ ॥

पुरुष (आत्मा) बहुत हैं। क्योंकि–

(क) जन्म, मरण, और इन्द्रियें प्रति पुरुष अलग २ हैं।

(ख) सब पुरुष एक साथ एक कर्म में नहीं लगते।

(ग) और भिन्न २ पुरुषों में सत्व आदि तीनों गुण

भिन्न २ प्रकार से हैं। जैसे कोई अधिक सात्विक है, कोई अधिक रजोगुणी है और कोई अधिक तमोगुणी है।

पुरुष के धर्म।

पुरुष का बहुत्व सिद्ध करके अब विवेकज्ञान के लिये, उसके धर्मों को कहता है–

तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य। कैवल्यमाध्यस्थ्यं द्रष्टृत्व मकर्तृभावश्च ॥ १९ ॥

पुरुष का बहुत्व तो सिद्ध हो ही चुका है, किन्तु उस विपर्यास या विपरीत भाव, जो गत ११ वीं कारिका में दिखाया गया है, उससे इसके साक्षित्व (साक्षीपना) कैवल्य (दुःखत्रय से रहित होना) माध्यस्थ्य (उदासीनता) द्रष्टृत्व (दर्शन) और अकर्तृत्व (अकर्तापन) ये पांच धर्म भी सिद्ध होते हैं। उक्त ११ वीं कारिका में कहा गया है कि– व्यक्त-औरप्रधान,–'त्रिगुण, अविवेकी, विषय,सामान्य,अचेतन और प्रसवधर्मी हैं, और पुरुष इन दोनों से विरुद्ध धर्म वाला है'। इस से कहागया होता है, कि- पुरुष, अत्रिगुण (तीनों गुणों से रहित) विवेकी, अविषय असामान्य, चेतन, और अप्रसव-धर्मी है। यही वहां का विपर्यास है। अब ध्यान देंगे, तो, प्रतीत होगा कि-सच मुच ही उस विपर्यास से पुरुष में साक्षित्व आदि ५ धर्म सिद्ध होते हैं। अर्थात्--चेतन और अविषय होने से वह साक्षी और द्रष्टा होता है। क्योंकि- चेतन ही साक्षी हो सकता है, किन्तु अचेतन वस्तु नहीं। अर्थात् साक्षी वह होता है, जिसे कोई विषय दिखाया जावे। लोक में जिस प्रकार वादी प्रतिवादी दोनों अपने विवाद की बातको साक्षी के लिये दिखाते हैं, ऐसे ही प्रकृति भी अपने आचरण किये हुवे विषय को पुरुष के प्रति दिखाती है, अतः पुरुष उसका

साक्षी है। क्योंकि अचेतन विषय को विषय नहीं दिखाया जासकता। इस कारण चेतन और अविषय होने से पुरुष साक्षी औ रद्रष्टा होता है। एवम् त्रिगुण रहित होने से ही वह दुःखत्रय से रहित है। अर्थात् सत्व आदि गुण ही सुख दुःख आदि रूप हैं, और वे उसमें हैं नहीं अतएव वह दुःखमात्र से रहित है तथा दुःखत्रय का अभाव ही कैवल्य या मोक्ष का स्वरूप है, अतः अत्रिगुण होने से उस का कैवल्य सिद्ध होता है। इसी प्रकार अत्रिगुण होने से ही यह मध्यस्थ या उदासीन है। क्योंकि सुखी सुख से तृप्त होता हुवा और दुःखी दुःख से द्वेष करताहुआ मित्रशत्रु की कक्षामें आजाता है, किन्तु मध्यस्थ नहीं होता। सुतराम् आत्मा सत्व आदि गुणों से रहित होने के कारण सुख दुःख से भी रहित है, और अतएव वह मध्यस्थ या उदासीन है। ऐसे ही विवेकी और अप्रसवधर्मी होने से वह अकर्त्ता है। प्रयोजन यह है कि- क्रिया जिस में होती है, वह कारक होता है, और क्रिया सब परिच्छिन्न (परिमित) वस्तु में होती है। परिमित वस्तु महत्तत्व से आरम्भ करके प्रकृति के सकल कार्य हैं। आत्मवस्तु व्यापक (विभु) है, उसमें क्रिया का संभव नहीं, अतः वह अकर्त्ता है अकर्त्ता पद से कर्त्ताके साथ करण, सम्प्रदान आदि अन्य कारकों का भी निषेध समझना चाहिये। कारण वे कारक भी क्रिया के सम्बन्धसे ही होते हैं। यहां 'प्रसव' नाम कार्य मात्र का है। कार्य पद में प्रकृति और पुरुष दोनों से अतिरिक्त सकल जड़समूह आता है, उन्हीं में चलन आदि क्रियायें भी हैं जबकि-आत्मा अप्रकृति है, तो उससे कोई कार्य होना संभव नहीं, अतः वह अप्रसवधर्मी होने से अकर्त्ता है, इसी प्रकार 'विवेकी' विशेषण भी उसे अकर्त्ताही सिद्ध करता है। क्योंकि हमारी समझ में 'विवेकी' नाम यहां विविक्त या अलग रहने

वाले का है। वह क्रिया तथा विकार (प्रसव) वालों से अलग है, इससे वह अकर्त्ता है ॥ १९ ॥

लिङ्ग चेतन के समान और पुरुष कर्त्ता के समान।

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वे च तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः ॥२०॥

यद्यपि पहिली कारिका में यह युक्तियों से सिद्ध हो चुका है कि-आत्मा अकर्त्ता है, किन्तु यह अनुभव के विरुद्ध है। अर्थात् सर्व साधारण को ऐसा अनुभव होता है कि-'मैं चेतन अपनी इच्छा से क्रिया (कर्म) करता हूं' इस अनुभव में चेतन और कर्त्ता एक ही प्रतीत होता है। इस से सांख्य के उक्त मत में यह अनुभव नहीं घटता। क्योंकि-उसमें चेतन अकर्त्ता और कर्त्ता अचेतन है। इसी प्रश्न का उत्तर यहां यह दिया गया है, कि-उक्त अनुभव, जिसमें आत्मा अकर्त्ता प्रतीत होता है भ्रान्ति रूप है। क्योंकि-आत्मा या पुरुष का अकर्तृत्व (अकर्त्तापन) युक्ति से सिद्ध होचुका। आत्मा में जो कर्तृत्व की प्रतीति होती है, वह लिङ्ग शरीर, जो महत् तत्व आदि १८ तत्वों के संयोग से बताया जायगा, उसके सम्बन्ध से प्रतीत होता है। अर्थात्–जैसे लाल पुष्प की लाली उसके संयोग से काच में प्रतीत होती है, किन्तु वह लाली पुष्प ही की है, काच की नहीं, ऐसे ही, लिङ्ग शरीरका कर्तृत्व पुरुष में प्रतीत होता है, वह लिङ्ग शरीर का ही है, वास्तव में पुरुष का नहीं अतः पुरुष कर्त्ता नहीं, कर्त्ता जैसा है। तथा कर्तृत्व का अनुभव भ्रान्तिरूप है। सर्वथा पुरुष उदासीन है।

जिस प्रकार लिङ्ग के संयोग से अकर्त्ता पुरुष कर्त्ता जैसा प्रतीत होता है, वैसे ही पुरुष के संयोगसे अचेतन लिङ्ग चेतन जैसा प्रतीत होता है, उस में भी चेतनत्व बुद्धि उसी प्रकार भ्रान्ति है ॥ २० ॥

पुरुष और लिङ्ग के संयोग का कारण ।

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतःसर्गः ॥२१॥

पहिली कारिका के व्याख्यान में यह बात समझी गई कि पुरुष और प्रधान या लिङ्ग के संयोग से उनमें परस्पर के कर्तृत्व और चेतनत्व धर्म अन्वित से प्रतीत होते हैं। किन्तु अभी यह बात समझ में नहीं आई, कि इनका संयोग ही पहिले कैसे हुआ ? इस प्रश्न के उत्तरके लिये ही यह कारिका आई है। इस में कहा गया है कि भोक्ता और भोग्य की योग्यता से ही इन दोनों का किसी अनादि काल में संयोग होगया था, और उनके संयोग से ही यह महत् आदि तत्वों या संसार की सृष्टि हुई। अर्थात्--जैसे-किसी भूखे आदमी को कोई फल मोदक आदि भक्ष्य वस्तु मिले और वह उसे खाने लगे। इस बात को ध्यान में देने से प्रतीत होगा कि-आदमी में भोजन करने की योग्यता है और फल आदि में भोग्यता की, इन्हीं से उन के संयोग होते ही भोजन रूप क्रिया की सृष्टि होने लगती है यदि उनका संयोग न हो अथवा भोक्ता का भोक्ता के साथ तथा भोग्य का भोग्यके साथ संयोग हो भी जावे तो उनकी योग्यता वहां सृष्टि को प्रवृत्त नहीं कर सकती, बल कि वह व्यर्थ ही रहेगी। ऐसे ही पुरुष की भोक्तृत्व याग्यता और प्रधान की भोग्यत्व योग्यता से उनका कभी संयोग हुआ,और उसी से सृष्टिका आरम्भ हुआ ऐसे ही कारिका में पंगु और अन्ध का दृष्टान्त भी है। इस की व्याख्या यों है कि- जैसे कोई पंगु और अन्ध दो मनुष्यहैं, और वे दोनों ही अपनें संघ के साथ वनमें जाते हुये डाकुओंके उपद्रव से अपनें साथियों से अलग होगये, तथा वनमें कहीं २

टकराते हुये आपस में दैव योग से मिले और उनका परस्पर में विश्वास हुआ। अन्धे में चलने की शक्ति है, और पंगु में देखने की, इसीसे अब वे दोनों मिलकर गमन और दर्शन क्रियाओं को कर सकते हैं, अतः पंगु अन्धे के कन्धे पर चढ़ा, तो अन्धा चला और पंगुने उसे राह बताई, सुखराम् वे अपने घर पर पहुंचे और दोनों ने अपना सम्बन्ध छोड़ा अर्थात् संयोग का त्याग किया। ऐसे ही चेतन पुरुष प्रकृति के साथ मिलकर उसके संयोग से ज्ञान गुण को प्राप्त होकर उसे छोड़ देता है, और वह भी अपना कार्य पूरा करके उसे छोड़ देती है। यही मोक्ष का स्थान है, तथा संयोग और उस से सृष्टि क्रम है॥ २१ ॥

सृष्टि का क्रम।

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्चषोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि॥२२॥

प्रकृति से महत् तत्व, उससे अहंकार, उस से १६ तत्व (५ ज्ञानेन्द्रियें ५ कर्मेन्द्रियें १ मन ५ तन्मात्र) और उनमें से भी ५ तन्मात्रों से ५ महाभूत (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) उत्पन्न होते हैं॥ अर्थात् शब्द तन्मात्रसे शब्द गुण वाला आकाश, (१) शब्द तन्मात्र से सहित स्पर्श तन्मात्र से शब्द और स्पर्शगुणवाला वायु, (२) शब्द और स्पर्श तन्मात्र से सहित रूप तन्मात्र से शब्द स्पर्श और रूप गुण वाला अग्नि (३) शब्द, स्पर्श, रूप तन्मात्र से संयुक्त रस तन्मात्र से शब्द, स्पर्श, रूप, और रस गुण वाला जल (४) और शब्द, स्पर्श, रूप, तथा रस तन्मात्र से युक्त गन्ध तन्मात्र से शब्द, स्पर्श, रूप, गन्धगुण वाली पृथिवी (५) उत्पन्न होती है॥

प्रकृति, प्रधान, ब्रह्म, अव्यक्त, बहुधानक, और माया, ये शब्द पर्य्याय (समान अर्थ के वाचक) हैं। महान्, बुद्धि, आसुरी, मति, ख्याति और ज्ञान ये सब पर्याय हैं। ऐसे ही अहंकार, भूतादि, वैकृत, तैजस और अभिमान, ये पर्याय हैं ॥ २२ ॥

बुद्धि का लक्षण और उस का धर्म।

अध्यवसायोबुद्धिर्धर्मोज्ञानं विरागऐश्वर्य्यम् ।
सात्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ॥२३॥

बुद्धि का लक्षण अध्यवसाय है। अर्थात् पुरुष मात्र ही जब किसी कर्म में प्रवृत्त होता है, उस समय अन्तःकरण में तीन वृत्तियें या क्रियाएं होती हैं, जैसे पहिले आलोचन (वस्तु का ज्ञान) फिर 'मैं इस में अधिकारी हूं' ऐसा अभिमान, फिर 'मुझे यह करना चाहिये' ऐसा अध्यवसाय या निश्चय ज्ञान होता है। इन में यह तीसरी वृत्ति या ज्ञान जिस में होता है, वही बुद्धि है। बुद्धि में (१) धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य्य ये चार सात्विक धर्म रहते हैं, और अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य्य ये चार तामस धर्म रहते हैं।

वैराग्य की चार अवस्थाएं होती हैं, जिन के नाम— (१) यतमानसंज्ञा (२) व्यतिरेकसंज्ञा (३) एकेन्द्रियसंज्ञा और (४) वशीकारसंज्ञा हैं ॥ २३ ॥

अहंकार का लक्षण और उसका कार्य भेद।

अभिमानोऽहंकारः तस्माद्द्विविधःप्रवर्त्ततेसर्गः ।
एकादशकश्चगणस्तन्मात्रपञ्चकश्चैव ॥ २४ ॥

अभिमान (मैं हूं यह ज्ञान) अहंकार है। उस से दो प्रकार की सृष्टि होती है, (१) ग्यारह इन्द्रियें और (२)

पांच तन्मात्र (कुल १६) ॥ २४ ॥

एक अहंकार से जड़ और प्रकाश की उत्पत्ति

सात्विकएकादशकः प्रवर्त्ततेवैकृतादहंकारात् ।
भूतादेस्तन्मात्रःस तामसः, तैजसादुभयम् ॥२५॥

अहंकार में तीन गुण होते हैं-सत्व, रज, और तम। जब इन में सत्व गुण से रज और तम दब जाते हैं, उस समय अहंकार की वैकृत संज्ञा (नाम) होती है। उस वैकृत अहंकार से सत्वगुण की सहायता से ग्यारह इन्द्रियें उत्पन्न होती हैं। इसी से ये इन्द्रियें सात्विक कही जाती हैं। जिस समय तमोगुण से सत्व और रज तिरस्कृत हो जाते हैं, उस समय जो अहंकार है, उस की भूतादि संज्ञा और तमोगुण के आधिक्य से 'तामस' संज्ञा भी हो जाती है, उस भूतादि या तामस नाम अहंकार से उस के समान स्वभाव वाले शब्द आदि ५ तन्मात्र उत्पन्न होते हैं। एवम्--जब रजोगुण से सत्व और तम दब जाते हैं, या जित हो जाते है, उस समय उस की तैजस संज्ञा हो जाती है। उस तैजस अहंकार से दोनों (इन्द्रियें और तन्मात्र) उत्पन्न होते हैं। क्योंकि--वैकृत अहंकार विकृत हो कर जब ११ इन्द्रियों को उत्पन्न करना चाहता है, तो वह निष्क्रिय होने के कारण अपने कार्य को कर नहीं सकता, अतः वह तैजस अहंकार जो क्रिया स्वभाव है, उस की सहायता लेता है, तथा तामस अहंकार भी निष्क्रिय होने से तन्मात्र रूप अपने कार्य को नहीं कर सकता अतः उसे भी तैजस अहंकार की सहायता लेनी पड़ती है। इस प्रकार वैकृत और भूतादि दोनों अहंकारो के साथ उनके कार्य में सहायक होने के कारण यह दोनों प्रकार के कार्यों का कारण बनता है ॥ २५ ॥

ज्ञानेन्द्रियें और कर्मेन्द्रियें।

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि ।
वाक्पाणिपादपायूपस्थाः कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥२६॥

(क) ज्ञानेन्द्रियें-चक्षु (नेत्र) श्रोत्र (कान) घ्राण (नाक) रसन (जिह्वा) त्वक् (त्वचा या चर्म)।

(ख) कर्मेन्द्रियें-वाक् (वाणी) हस्त, पाद, पायु (गुद) उपस्थ (लिङ्ग या योनि)॥

इन्द्र नाम आत्मा (पुरुष) का है, उसके जनाने वाले होने से या उसके सम्बन्ध से ये (इन्द्रिय) कहलाते हैं। इन इन्द्रियों के पृथक् २ लक्षण इनके कार्य से ही हैं। जैसे-रूपका ग्रहण कराने वाला इन्द्रिय चक्षु है। शब्द का ग्रहण कराने वाला श्रोत्र, गन्धका ग्रहण कराने वाला घ्राण, रस का ग्रहण कराने वाला रसन, और स्पर्शका ग्रहण कराने वाला त्वक् इन्द्रिय है। कर्मेन्द्रियों के लक्षण उनके कार्यों से जानने चाहियें, जो २८ वीं कारिका में कहे जावेंगे ॥ २६ ॥

ग्यारहवां इन्द्रिय (मन)।

उभयात्मकमत्रमनः संकल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात् ।
गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च ॥ २७ ॥

(क) इन इन्द्रियोंमें मन उभयात्मक अर्थात्-ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियरूप है। क्योंकि-वह दोनों प्रकार की इन्द्रियों की प्रवृत्तिको कल्पित करता है।

(ख) संकल्प मनका असाधारण धर्म या लक्षण है। संकल्प, नाम समीचीन कल्पना या विशेष कल्पना का है। अर्थात्-पहिले अन्य इन्द्रियोंसे सामान्यरूप से ज्ञान होना है, जैसे 'यह कुछ वस्तु है' फिर उसी में विशेषण की कल्पना होती है, कि-यह

इसमें जाति है, यह गुण तथा यह क्रिया इत्यादि। यही विशेष कल्पना और संकल्प है। यही क्रिया जिस में होती है, वह मन है।

(ग) मन की गणना इन्द्रियों में इस लिये है, कि-वह भी अन्य इन्द्रियों के समान सात्विक अहंकार से उत्पन्न हुआ है।

एक अहंकार से नाना इन्द्रियों की उत्पत्ति।

(घ) गुणों के परिणाम के भेद से एक ही अहंकार से नाना इन्द्रियें हो जाती हैं। जैसे कि- और भी वाह्य वस्तु-रूप रस आदि हो जाती हैं॥ २७॥

दश इन्द्रियों की असाधारणवृत्तियें।

शब्दादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः।
वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम् ॥२८॥

श्रोत्र आदि पांच ज्ञानेन्द्रियों की शब्द आदि पांच विषयोंमें आलोचन मात्र (संमुग्धज्ञान = सामान्यज्ञान) वृत्ति मानी जाती है। जैसा कि- मनके लक्षण में समझायागया है। और ५ कर्मेन्द्रियों की क्रम से वचन, आदान, (लेना) विहरण, (चलना) उत्सर्ग, (छोड़ना बहाना = निकालना) और आनन्द, ये पांच वृत्तियें हैं॥ २८॥

तीनों अन्तः करणों की वृत्तियें।

स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या।
सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्यावायवः पञ्च ॥ २९॥

तीनों अन्तः करणों की वृत्तियें या क्रियाएं अपने २ लक्षण के रूप से हैं। जैसे—बुद्धि की वृत्तिअध्यवसाय, अहंकार की अभिमान और मनकी संकल्प रूप वृत्ति है। ये इनकी

असाधारण या न्यारी २ वृत्तियें हैं, और ५ प्राण आदि वायु इनकी साधारण (सामान्य या साझे की) वृत्तियें हैं ॥ २९ ॥

तीनों अन्तः करणों की असधारण वृत्तियोंमें
प्रकार सहित क्रम और अक्रम ।

युगपच्चतुष्टयस्यतु वृत्तिः क्रमशश्च तस्यानिर्दिष्टा ।
दृष्टे तथाऽप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः ॥३०॥

उस अन्तःकरणचतुष्टय (इन्द्रिय सहित मन, केवल मन, अहंकार और बुद्धि) की वृत्तियें दृष्ट (प्रत्यक्ष) विषय में एक साथ और क्रम से ही होती हैं । ऐसे ही अदृष्ट (परोक्ष) विषय में भी बाह्य इन्द्रिय के विना तीनों अन्तःकरणों (मन अहं-कार और बुद्धि) की वृत्तियें दर्शन पूर्वक एक साथ तथा क्रम पूर्वक होतीहैं । यह वाचस्पति मिश्रका मत है । गौडपाद मानते हैं, कि-वर्त्तमान विषय में क्रम से और एक साथ भी चारों की प्रवृत्तियें होती हैं, किन्तु परोक्ष या भूत तथा भविष्यत् विषय में क्रम से ही वृत्तियें होती हैं ।

यह बात कही गई है कि–बाह्यइन्द्रिय चक्षु आदि से सामान्य ज्ञान होता है, कि–'यह कुछ है, मनसे विशेष ज्ञान होता है' जैसे 'यह घड़ा है' या 'वस्त्र है' इत्यादि, अहंकार से अभिमान होता है, जो एक अपनी योग्यता का ज्ञानस्वरूप है, जैसे कि 'मैं इस वस्तु से ऐसा सम्बन्ध कर सकता हूं' या मैं इस में ऐसी योग्यता रखता हूं, अर्थात्–'मैं इसे उठा सकता हूं, छू सकता हूं, ले सकताहूं इत्यादि और बुद्धि से अध्यव-साय ज्ञान होता है, जिसका स्वरूप यह है, कि-'मैं यह करूं, या 'ऐसा करूं' सुतराम् ज्ञान की चार अवस्थाएं हुईं, किन्तु इनके क्रमके सम्बन्ध में अभी तक कुछ निर्णय नहीं किया गया, उसी के लिये यह कारिका है । इससे यह स्थिर किया

गया है कि-संयोगवश प्रत्यक्ष विषय में कभी चारों ज्ञान एक साथ होजाते हैं और कभी क्रमसे ही। जैसे-गाढ़ी अँधियारी रात्रि में कोई मनुष्य वन में जाता है, और उसे बिजली के प्रकाश के साथ सामने कोई व्याघ्र अचानक दिखाई दे, वहां उसे सामान्य, विशेष, अभिमान और अध्यवसाय चारों ज्ञान एक ही साथ हो जाते हैं और वह एक साथ ही पीछे हटता है। ऐसे ही क्रमका उदाहरण मन्द अन्धकारमें लीजिये। पहिले मनुष्य को उसमें 'कुछ है'-ऐसा सामान्य ज्ञान होता है जो नेत्ररूप बाह्यइन्द्रिय का व्यापार है। और फिर टकटकी लगाकर देखने से 'धनुषबाण साधे हुये कोई चोर है, मुझे मारना ही चाहता है,-ऐसा प्रतीत होता है, यह विशेष ज्ञान मनका व्यापार है। फिर उसे अभिमान होता है कि-मैं यहां से हट सकता हूं, यह अहंकारका व्यापार है। और फिर इसी प्रकार वह अध्यवसाय करता है कि-मैं यहांसे हटूं, यह बुद्धि का व्यापार है॥ यह प्रत्यक्ष विषय में चारों इन्द्रियोंकी वृत्ति का क्रम और अक्रम हुआ। और जहां बाह्यइन्द्रिय नेत्र आदि का वस्तु से उचित सम्बन्ध नहीं है, अर्थात् जानने योग्य वस्तु भूतकाल में है, या भविष्यत् कालमें है,या अतिदूर आदि होने के कारण वह दुर्ज्ञेय है, वहां तीन अन्तःकरणों (भीतरी-इन्द्रिय मन आदिकों) का ही व्यापार होता है किन्तु नेत्र आदि का नहीं। विशेष यह है कि-जिस विषय पर मन आदि को जाना है वह पहिले बाह्य इन्द्रियसे कभी अनुभव कर लिया गया हो, तभी उस विषय का उन से ज्ञान होता है, अन्यथा नहीं। जैसे किसी ने पहिले राजा का दर्शन किया है, उसी को कालान्तर में उसका मनसे स्मरण होता है। जिसने राजा को देखा नहीं उसे उसका स्मरण भी होता नहीं। यह

आभ्यन्तर इन्द्रियों के द्वारा होने वाला ज्ञान बाह्यविषय में स्मरणरूप और आभ्यन्तर सुख दुःख आदि विषय में प्रत्यक्ष रूप होता है ॥ ३० ॥

इन्द्रियों तथा तीनों अन्तःकरणों की परिचालना ।

यद्यपि इन्द्रियों की प्रवृत्ति का क्रम समझा गया, तथापि यह नहीं जाना गया कि-इनका प्रेरक कौन है या किस से ये परिचालित होती हैं? इसी के उत्तर में यह कारिका है—

स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूतहेतुकांवृत्तिम् ।
पुरुषार्थ एवहेतुर्न केनचित् कार्यते करणम् ॥ ३१ ॥

जिस प्रकार अनेक चोर आपस में संकेत करके चोरी के स्थान में परस्पर के संकेत वश अपनी२ क्रियाओं को यथाक्रम करते हैं, उसी प्रकार सब इन्द्रियें भी अपनी२ वृत्तियों (क्रियाओं) में प्रवृत्त होती हैं, इनकी प्रवृत्तियों में पुरुषार्थ (पुरुष का अदृष्ट) ही कारण है । सुतराम् इन्द्रियें किसी चेतन अधिष्ठाता से परिचालित नहीं होतीं ॥ ३१ ॥

करण के भेद ।

करणंत्रयोदशविधम्, तदाहरणधारणप्रकाशकरम् ।
कार्यं च तस्य दशधाऽऽहार्य्यं धार्यं प्रकाश्यं च ॥३२

करण १३ प्रकार का होता है (११ इन्द्रियें १ बुद्धि १ अहंकार) । उनमें—

१-कर्मेन्द्रियों (वाणी आदिकों) का आहरण (लाना) कर्म है ।

२-अन्तःकरणों (बुद्धि अहंकार और मन) का प्राण आदिका अपनी वृत्तियों से धारण करना कर्म है ।

३-ज्ञानेन्द्रियों का प्रकाश करना कर्म है ।

(क) कर्मेन्द्रियों का आहार्य (आहरण करने योग्य) विषय १० प्रकार का है (१) दिव्य वचन (बोलना) (२) अदिव्य बचन (३) दिव्य आदान (लेना) (४) अदिव्य आदान (५) दिव्य विहार (चलना) (६) अदिव्य विहार (७) दिव्य उत्सर्ग (छोड़ना) (८) अदिव्य उत्सर्ग (९) दिव्य आनन्द (१०) अदिव्य आनन्द ।

(ख) तीनों अन्तः करणों का धार्य्य (धारण करने योग्य) विषय १० प्रकार का होता है—

(१) दिव्य प्राण (२) अदिव्य प्राण (३) दिव्य अपान (४) अदिव्य अपान (५) दिव्य समान (६) अदिव्य समान (७) दिव्य उदान (८) अदिव्य उदान (९) दिव्य व्यान (१०) अदिव्य व्यान ।

(ग) ज्ञानेन्द्रियों का प्रकाश्य (प्रकाश करने योग्य) विषय १० प्रकार का होता है-

(१) दिव्य शब्द (२) अदिव्य शब्द (३) दिव्य स्पर्श (४) अदिव्य स्पर्श (५) दिव्यरूप (६) अदिव्य रूप (७) दिव्य रस (८) अदिव्य रस (९) दिव्य गन्ध (१०) अदिव्य गन्ध ॥ ३२ ॥

तेरह (१३) प्रकार केकरण ।

अन्तःकरणंत्रिविधंदशधाबाह्यंत्रयस्यविषयाख्यम् ।
साम्प्रतकालंबाह्यंत्रिकालमाभ्यन्तरंकरणम् ॥३३॥

अन्तःकरण तीन प्रकार का होता है बुद्धि, अहंकार, और मन । बाह्य इन्द्रिय दश प्रकार का होता है—५ ज्ञानेन्द्रियें और ५ कर्मेन्द्रियें ।

ये दशों बाह्य इन्द्रियें अन्तःकरण के ही विषय को प्रकट

करते हैं। अर्थात् जब ये तीनों अन्तःकरण विषय का संकल्प, अभिमान और अध्यवसाय करना चाहते हैं, तब ये १० इन्द्रियें द्वार रूप हो जाती हैं–ज्ञानेन्द्रियें आलोचन (सामान्यज्ञान) से और कर्मेन्द्रियें अपने यथायोग्य व्यापार से द्वार भूत होती हैं।

विशेषान्तर–

बाह्य इन्द्रियों का सामर्थ्य केवल वर्त्तमान विषय में रहता है, और बुद्धि आदि आभ्यन्तर करणों का सामर्थ्य भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान तीनों कालों में होता है ॥३३॥

बाह्य इन्द्रियों के विषय।

बुद्धीन्द्रियाणितेषां पञ्चविशेषाविशेषविषयाणि।
वाग्भवतिशब्दविषया शेषाणितुपञ्चविषयाणि ।३४।

उन १० बाह्य इन्द्रियों में ५ ज्ञानेन्द्रियों के विशेष (स्थूल शब्द आदि और पृथिवी आदि जो शान्त, घोर तथा मूढ स्वभाव हैं) और अविशेष (तन्मात्र-सूक्ष्म शब्द आदि) विषय हैं। इस में भी यह विशेष है, कि योगियों का श्रोत्र (कान) सूक्ष्म शब्द और स्थूल (मोटा) शब्द दोनों को सुन सकता है, किन्तु हम लोगों का कान केवल मोटे शब्द को ही सुन सकता है। उन की त्वक् (चर्म) मोटे और सूक्ष्म दोनों प्रकार के स्पर्श को ग्रहण कर सकती है और हमारी त्वक (चर्म) मोटे ही स्पर्श को छू सकती है। एवम् उन के और हमारे नेत्र आदि में भी भेद है। अर्थात् उन के नेत्र आदि स्थूल व सूक्ष्म दोनों प्रकार के रूप आदि को ग्रहण कर सकते हैं और हमारे केवल स्थूल ही विषय को ले सकते हैं।

ऐसे ही कर्मेन्द्रियों में वाक् (वाणी) हमारी या योगियों की हो, स्थल शब्द को ही उच्चारण कर सकती है, किन्तु

सूक्ष्म शब्द को नहीं। क्योंकि वाक् इन्द्रिय और सूक्ष्म शब्द दोनों अहंकार रूप एक ही कारण से उत्पन्न हुये हैं। अर्थात् एक साथ उत्पन्न होने वाला बराबर वाले को अनुभव नहीं कर सकता। और शेष चार (गुदा, लिङ्ग या योनि, हाथ, और पैर) इन्द्रियों के रूप आदि ५ विषय हैं क्यों कि हस्त आदि चार इन्द्रियें जिन घट आदि वस्तुओं से सम्बन्ध करते हैं, वे सब शब्द आदि तन्मात्ररूप ही हैं, या उन्हीं से प्रकट हुये हैं।

गौडपाद आचार्य यहां कहते हैं कि मनुष्यों की ज्ञानेन्द्रियें सुख, दुःख और मोह रूप विषयों से युक्त शब्द आदिकों को प्रकाशित करती हैं और देवताओं की ज्ञानेन्द्रियें शब्द आदि को प्रत्यक्ष करती हैं, किन्तु उन्हें उन में सुख दुःख आदि की प्रतीति नहीं होती। कर्मेन्द्रियों में वाणी दोनों की बराबर है। (हमारी समझ में देवताओं की वाणी जैसे शुद्ध शब्द को उच्चारण कर सकती है, वैसे मनुष्यों की नहीं) और शेष इन्द्रियें (हाथ आदि) ५ विषयों को ग्रहण करती हैं। अर्थात् हाथ में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध पांचों विषय हैं, इसी से वह उक्त पांचों गुण वाली पृथ्वी में चलता है। ऐसे गुद आदि में भी योजना करना॥ हमारी समझ में दोनों व्याख्यानों का समुच्चय (मेल) हो सकता है। अर्थात् हमारी देवताओं तथा योगियों की इन्द्रियों की शक्ति में दोनों ही प्रकार से भेद का संभव है, अतः दोनों ही व्याख्यान स्वीकार करने योग्य हैं॥ ३४॥

करणों की परस्पर गौणता और प्रधानता

सान्तःकरणाबुद्धिःसर्वं विषयमवगाहतेयस्मात्।
तस्मात्त्रिविधंकरणंद्वारि, द्वाराणिशेषाणि ॥३५॥

अन्य दो अन्तः करणों (मन, अहंकार) सहित बुद्धि अर्थात् तीनों अन्तःकरण जिससे कि-भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान काल में शब्द आदि सब विषयों को अवगाहन (ग्रहण) करते हैं, इससे उक्त तीनों अन्तःकरण द्वारि (प्रधान) और शेष बाह्य इन्द्रियें द्वार (अप्रधान या गौण) हैं ॥ ३५ ॥

मन और अहंकार दोनों की अपेक्षा बुद्धि की प्रधानता

एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः ।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥३६॥

ये सब बुद्धि के अतिरिक्त जितने करण हैं, अर्थात्-५ ज्ञानेन्द्रियें ५ कर्मेन्द्रियें, अहंकार और मन (कुल १२) सब दीपक के समान हैं। अपनें २ विषय को प्रकाश करनें वाले हैं। आपस में सब विलक्षण हैं, भिन्न २ विषय वाले हैं। और गुण विशेष हैं, सत्व आदि गुणों से उत्पन्न हुये २ हैं। पुरुष को जो २ कुछ विषय अपनें में भान होता हुआ प्रतीत होता है, उस सब को ये करण (इन्द्रियें) अपनें २ विषय के अनुसार प्रकाशित करके बुद्धि में स्थापित करते हैं। प्रयोजन यह है कि-जो विषय बाहरी इन्द्रियों में भासता है, वही भीतरी इन्द्रिय मन में विशेष रूप से पड़ता है, फिर वही अहंकार में पहुंचता है, जिसका कि- उसे अभिमान होता है और वही विषय उस के द्वारा बुद्धि में चमकता है, जिसका कि-उसे अध्यवसाय (निश्चय) होता है। बस इससे आगे वह विषय कहीं नहीं जाता, अतः इनमें सर्व प्रधान बुद्धि ही है। इनके मत में इन्द्रिय आदि संघात का अध्यक्ष बुद्धि तत्व ही है। नैयायिकों के समान आत्मा अध्यक्ष नहीं है। अर्थात् उनके मतमें सब पदार्थों का ज्ञान साक्षात् सम्बन्ध से आत्मा में ही उत्पन्न होता है," इन्द्रियें उसी के साधन हैं अतः वही अध्यक्ष

(प्रधान) है । इनके मत में सब ज्ञान बुद्धि में ही रहता है, आत्मा या पुरुष में उसकी छायामात्र पड़ती है और साक्षात् सम्बन्ध का ज्ञान भ्रान्ति रूप है । अतः बुद्धि ही प्रधान है ३६

फिर बुद्धि की प्रधानता ।

सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः ।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ३७

जिस कारण से कि-पुरुष के सब विषय के उपभोग को बुद्धि साधन करती है, और वही फिर प्रधान और पुरुष के सूक्ष्म (दुर्लक्ष्य) अन्तर को प्रकाशित करती है, अतः वही (बुद्धि) प्रधान है । जिस प्रकार कि-सर्वाध्यक्ष या प्रधान मन्त्री राजा के सब कार्यों का साक्षात् सम्पादन करने से प्रधान है, और ग्रामाध्यक्ष आदि उसके प्रति गौण रहते हैं । अर्थात्-बुद्धि पुरुष के साक्षात् सम्बन्ध से या ठीक उसी के साथ संयुक्त होने से पुरुष की छाया (छवि) को धारण कर लेती है, जो २ कुछ सुख, दुःख आदि बुद्धिमें होता है वही पुरुषमें दिखाई देता है, और सब पुरुष से दूर रहते हैं, जैसे अहंकार और पुरुष के बीच में बुद्धि पड़ जाती है, तथा और इन्द्रियों के बीच में अहंकार और बुद्धि पड़ती है । इसी से उनपर पुरुष की और पुरुष पर उनकी छाया नहीं पड़ती । सुतराम् उक्त प्रकार बुद्धि ही पुरुष के सब उपभोगों का साक्षात् साधन है, और वही प्रधान ॥ ३७ ॥

विशेष अविशेषों का विभाग ।

तन्मात्राण्यविशेषाः, तेभ्यो भूतानि पञ्चपञ्चभ्यः
एतेस्मृता विशेषाः, शान्ता घोराश्चमूढाश्च ॥३८॥

शब्द आदि ५ तन्मात्र अविशेष कहलाते हैं, और उन

शब्द आदि पांच तन्मात्रों से आकाश आदि ५ महाभूत होते हैं। ये ५ महाभूत विशेष कहलाते हैं। क्योंकि-ये कोई शान्त कोई घोर, और कोई मूढ होते हैं। अर्थात्-सूक्ष्म शब्द आदि तन्मात्र उपभोग योग्य नहीं होते हैं, इसी से उनके शान्तत्व आदि धर्मों का अस्मदादिकों को अनुभव नहीं होता,अतएव ये 'अविशेष' पद के वाच्य होते हैं। और आकाश आदि ५ भूत स्थूल होने से उनके शान्तत्व आदि धर्मों को हम अनुभव करते हैं, इसी से वे विशेष कहे जाते हैं ॥ ३ ॥

विशेषों के अवान्तर विशेष।

सूक्ष्मा मातापितृजाः सहप्रभूतैस्त्रिधा विशेषाःस्युः।
सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्त्तन्ते ॥३९॥

प्रकृति से उत्पन्न होने वाले २४ तत्वों में से अनेक २ तत्वों के मेल से तीन विशेष वस्तुएं होती हैं, जिन से पुरुष का उपभोग सिद्ध होता है। जैसे १ सूक्ष्म शरीर जो १८ तत्वों से संग्रह किया हुआ होता है, २ रा माता पिता से उत्पन्न होने वाला स्थूल शरीर और ३ रा विशेष महाभूत हैं। इन्हीं तीन विभागों में बटे हुये सब प्राकृत पदार्थों का पुरुष उपभोग करता है। इनमें सूक्ष्म शरीर की स्थिति तत्वज्ञान के उत्पन्न होने तक रहती है, और माता पिता से होने वाले नष्ट हो जाते हैं, तथा उसके तत्व अपनें २ समान तत्व में मरण के अनन्तर मिल जाते हैं। इसी प्रकार महाभूत भी प्रलय काल में अपनें २ अव्यक्त कारण में मिल ही जाते हैं ॥ ३९ ॥

सूक्ष्म शरीर का निरूपण।

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादि सूक्ष्मपर्यन्तम्।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥४०॥

लिङ्ग शरीर सृष्टि के आदि काल में प्रधान से प्रतिपुरुष अलग २ उत्पन्न किया गया है। असक्त है, अर्थात्-शिलामें भी प्रवेश कर जाता है। नियत या महाप्रलय तक ठहरने वाला है १-महत्तत्व १-अहंकार १-मन ५-ज्ञानेन्द्रियें ५-कर्मेन्द्रियें और ५ तन्मात्र कुल १८ तत्वों का समूहरूप है। षाट्कौशिक (६ कोशों के समूहरूप) स्थूल शरीरके विना अकेला भोगका स्थान नहीं बन सकता, और धर्म अधर्म आदि ८ भावों की वासना से युक्त होनेके कारण संसरण करता है (पूर्व२ शरीरको छोड़ २ कर नये २ शरीरको धारण करता है) ॥ ४० ॥

लिङ्ग शरीर को स्थूल शरीर की अपेक्षा।

चित्रंयथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्योविनायथाच्छाया।
तद्वद् विना विशेषै र्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् ॥४१॥

जिस प्रकार आश्रय (दीवार आदि) के विना और छाया वृक्ष आदि के विना नहीं रह सकती, उसी प्रकार स्थूल शरीर के विना लिङ्ग शरीर नहीं रहता (यहां तक कि-मृत्युके पश्चात् दूसरे शरीर के ग्रहण करने से पहिले उस अवान्तर में भी तात्कालिक अदृष्टनिर्मित एक पाञ्चभौतिक शरीर उसे मिल जाता है सर्वथा वह निराश्रय नहीं रहता) ॥४१॥

लिङ्ग शरीर की संसृति का प्रकार और कारण।

पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसंगेन।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद्व्यवतिष्ठते लिङ्गम् ॥४२॥

पुरुषार्थ (जीवों के अदृष्ट) की प्रेरणा से युक्त होकर यह लिङ्ग शरीर धर्म, अधर्म और षाट्कौशिक शरीर के सम्बन्धसे नटके समान नानारूप (मनुष्यदेव तिर्यक्रूप) से व्यवस्थित होता है। प्रकृतिके विभुत्व (महिमा) से उसे विलक्ष-

शरीरों की दुर्लभता नहीं है ॥४२॥

निमित्त और नैमित्तिक का विभाग।

सांसिद्धिकाश्चभावाःप्राकृतिकावैकृताश्चधर्माद्या ।
दृष्टाःकरणाश्रयिणःकार्याश्रयिणश्चकललाद्याः॥४३॥

धर्म आदि भाव दो प्रकार के होते हैं, प्राकृतिक और वैकृतिक। प्राकृतिक सांसिद्धिक या स्वाभाविक कहे जाते हैं जैसे–सृष्टि के आदि कालमें भगवान् कपिलदेव महामुनि जन्म से ही धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य युक्त प्रकट हुये। इन में धर्म आदि जो भाव थे वे स्वाभाविक थे। और जो किसी देवता के आराधन आदि उपाय से उत्पन्न होते हैं, वे वैकृतिक असांसिद्धिक या अस्वाभाविक कहे जाते हैं। जैसे-प्राचेतस आदि महर्षियोंको धर्म आदिकी प्राप्तिहुई। ये भाव करणों में या इन्द्रियसमूहरूप लिङ्ग शरीर में रहते हैं॥ षाट्कौशिक शरीर की गर्भ में कलल, बुद्बुद, मांस-पेशी, अङ्ग प्रत्यङ्ग व्यूह आदि अवस्थायें होतीहैं। तथा गर्भसे बाहर निकले हुये स्थूल शरीर की बाल्य, कौमार, यौवन और बुढ़ापा अवस्थाएं होती हैं। (भावोंका विभाग निमित्त विभाग है और शरीरों का विभाग नैमित्तिक विभाग है)

गौड़पाद यहां भावों के तीन भेद मानते हैं-सांसिद्धिक, प्राकृत, और वैकृत। इनके उदाहरण में आदि विद्वान् कपिल सनकादि और अस्मदादि हैं इस मतमें सांसिद्धिक स्वाभाविक प्राकृत देवता के आराधन आदि उपाय से उत्पन्न और वैकृत अध्ययन से उत्पन्न हैं ॥४३॥

किस निमित्त का कौन नैमित्तिक है।

धर्मेणगमनमूर्ध्वंगमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण ।

ज्ञानेनचापवर्गो विपर्ययादिष्यतेबन्धः ॥४४॥

धर्म से ऊद्र्ध्वगमन (स्वर्ग आदि की प्राप्ति) अधर्म से अधोगति (नरक आदि दुःख की प्राप्ति) ज्ञान से अपवर्ग (मोक्ष) और अज्ञान से बन्धन (संसार) माना गया है ॥ ४४ ॥

वैराग्यात्प्रकृतिलयःसंसारोभवतिराजसाद्रागात्।
ऐश्वर्यादविघातो विपर्ययात्तद्विपर्यासः ॥४५॥

जिनको आत्मज्ञान नहीं हुआ और उन्हें पहिले ही इस लोक तथा परलोक के सुख में वितृष्णा (अनिच्छा) हो गई तथा वे प्रकृति या उसके कार्य महत्तत्व आदि में ही आत्म बुद्धि करके उनकी उपासना करते हैं, उनका उनकी उपासना के अनुसार प्रकृति आदिमें लय हो जाता है और फिर संसार में आगमन होजाता है राजस राग से संसार होता है। ऐश्वर्य से इच्छा का अविघात होता है, अर्थात्–जिस वस्तु की इच्छा करता है उसे वही मिल जाती है। एवम् अनैश्वर्य से इच्छा का विघात होता है, जिस वस्तु की इच्छा करता है वह उसे नहीं मिलती ॥ ४५ ॥

फल सहित आठ भाव ।

(का० ४४—४५)

निमित्त	नैमित्तिक	निमित्त	नैमित्तिक
१ धर्म से	ऊद्र्ध्वगमन	५ वैराग्यसे	प्रकृतिलय ।
२ अधर्म से	अधोगति ।	६ अवैराग्य से	संसार
३ ज्ञान से	मोक्ष	७ ऐश्वर्य से	इच्छानभिघात
४ अज्ञान से	बन्धन ।		

निमित्त — नैमित्तिक

अनैश्वर्य से — सर्वत्र इच्छा का विघात

बन्ध चित्र का० ४४—४५

बन्ध		अधिकारी	फल	काल	व्यवस्था
प्राकृत		❀प्रकृति का उपासक	प्रकृतिलय	एकलक्ष	❀प्रकृति को आत्म बुद्धि से उपासना करने वाला
वै……कृ……त	(१)	इन्द्रिय में आत्मबुद्धि से चिन्तन करने वाला	विगतत्व-रता	दश मन्व-न्तर	
	(२)	बुद्धिकोआत्मबुद्धिसे उपासना करनेवाला	बुद्धिमेंलय	१० सहस्र	
	(३)	अहंकार को आत्मबुद्धि से उपासना करने वाला	अहंकार में लय	१ सहस्र	
	(४)	पृथिवीआदिभूतोंमें आत्मबुद्धिसेउपासक	भूतलय	१००	
दाक्षिणक	(१)	इष्टापूर्तकारी (यज्ञानुष्ठानकारी)	स्वर्ग	निर्धि कहा गया काल	
	(२)	ईश्वरार्पण बुद्धि से इष्टापूर्तकारी	क्रममुक्ति		क्रम यह है कि—पहिले निष्काम कर्म, फिर उससे अन्तःकरणशुद्धि, फिर तत्वज्ञान, फिर मोक्ष।

बुद्धि का संक्षिप्त सर्ग ।

एषप्रत्ययसर्गोविपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः ।
गुणवैषम्यविमर्दात्तस्यचभेदास्तुपंचाशत् ॥४६॥

विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि, और सिद्धि-यह बुद्धि का संक्षिप्त सर्ग (सृष्टि) है । गुणों के न्यून अधिक होने से जो उन का आपस में विमर्द होता है, या आपस में एक को दूसरा दबा कर प्रधान हो जाता है, उससे उसके ५० भेद होते हैं ॥ ४६ ॥

संक्षिप्त सर्ग—चित्र (का० ४६)

कारण	कार्य
बुद्धि	(१) विपर्यय (२) अशक्ति (३) तुष्टि (४) सिद्धि ।

अन्तर्भाव चित्र (का० ४६)

जिसमें अन्तर्भाव	जिसका अन्तर्भाव
(१) विपर्यय	(१) अज्ञान ।
(२) अशक्ति	(२) अनैश्वर्य (३) अवैराग्य (४) अधर्म ।
(३) तुष्टि	(५) धर्म (६) वैराग्य (७) ऐश्वर्य ।
(४) सिद्धि	(८) ज्ञान ।

संक्षिप्त सर्ग के ५० भेदों की गणना ।

पञ्चविपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिश्च करणवैकल्यात् ।
अष्टाविंशतिभेदा, तुष्टिर्नवधा,ऽष्टधासिद्धिः ॥४७॥

विपर्यय के ५ भेद होते हैं, अशक्ति,-बुद्धि आदि १३ करणों के वैकल्य (विकल हो जाने) से २८ प्रकार की, तुष्टि ९ प्रकार की और सिद्धि ८ प्रकार की होती है । इन सब का योग करने से ५० भेद होते हैं ॥

५० भेदों के नाम ।

(विपर्यय के भेदों के नाम)

(१) विपर्यय-(१) अविद्या (तमः) (२) अस्मिता (मोह) (३) राग (महामोह) (४) द्वेष (तामिस्र) (५) अभिनिवेश (अन्धतामिस्र) ॥४७।

विपर्यय के भेदों के भेद ।

भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधोमहामोहः ।
तामिस्रोऽष्टादशधा तथाभवत्यन्धतामिस्रः ॥ ४८॥

तम या अविद्या के ८ भेद हैं । मोह (अस्मिता) के ८ हैं । महामोह (राग) के १० भेद हैं । तामिस्र (द्वेष) के १८ भेद हैं । अन्धतामिस्र (अभिनिवेश) के १८ भेद हैं । कुल ६२ भेद हैं) ॥

व्याख्या ।

(१) तम या अविद्या अव्यक्त, महत्तत्त्व, अहंकार और शब्द आदि ५ तन्मात्रों में आत्म--बुद्धिरूप ८ प्रकार की होती है ।

(२) अस्मिता या मोह । देवताओंको ८ प्रकार के ऐश्वर्य की प्राप्तिसे "यह अणिमा आदि हमारा शाश्वतिक (सदाका) ऐश्वर्य है" ऐसा अभिमान होता है, तद्रूप अस्मिता ८ प्रकार की होती है ।

(३) राग या महामोह-दिव्य अदिव्य शब्द आदि दशविध रञ्जनीय (जिन में राग हो) विषयों में आसक्तिरूप दश प्रकार का महामोह होता है ।

(४) द्वेष (तामिस्र) दिव्य अदिव्य भेद से १० प्रकार के शब्द आदि विषय परस्पर से उपघात किये जाते हुये द्वेष के विषय होते हैं और अणिमा आदि ८ सिद्धियें

स्वरूप से ही कोपनीय होती हैं, अतः १० शब्द आदि और ८ अणिमा आदि मिलकर १८ क्रोध के विषय होने से क्रोध या द्वेष १८ प्रकार का होता है।

(५) अभिनिवेश (अन्धतामिस्त्र)। अणिमा आदि ८ ऐश्वर्य और शब्द आदि १०, कुल १८ विषयों या उपायों को प्राप्त होकर देवताओं को भय होता है, कि-इन्हें असुर न छीनलें। इस प्रकार भयका विषय१८प्रकारका होनेसे भय या अन्धतामिस्त्र भी १८ प्रकार का होता है ॥४८॥

२८ प्रकार की अशक्ति।

(११ इन्द्रिय बध, ६ अतुष्टियें और ८ असिद्धियें)

एकादशेन्द्रियबधाः सहबुद्धिबधैरशक्तिरुद्दिष्टा।
सप्तदशबधा बुद्धे र्विपर्ययात्तुष्टिसिद्धीनाम् ॥४९॥

१७ बुद्धि बधों के सहित ११ इन्द्रियों के बधरूप २८ प्रकार की अतुष्टि कही गई है। तुष्टियों और सिद्धियोंके विपरीत रूप सेअर्थात्-९ अतुष्टियों और ८असिद्धियों के रूप से बुद्धि-बध १७ होते हैं ॥ ४९ ॥

नवधा (९) तुष्टि।

आध्यात्मिक्यश्चतस्रःप्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः
बाह्याविषयोपरमात्पञ्च, नवतुष्टयोऽभिमताः ।५०।

चार अध्यात्मिकी (भीतरी) तुष्टियें होती हैं। जिनके प्रकृति उपादानकाल और भाग्य ये नाम हैं विषयों से उपरति (निवृत्ति) के कारण बाह्य (बाहरी) तुष्टियें ५ होती हैं। सब मिलकर ९ तुष्टियें हैं।

व्याख्या।

'प्रकृति से आत्मा भिन्न वस्तु है'-ऐसा निश्चय करके फिर उसके श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा विवेक साक्षा-

त्कार के लिये असत् उपदेश से सन्तुष्ट होकर जो पुरुष यत्न नहीं करता, उसको ये चार आध्यात्मिकी तुष्टियें होती हैं। क्योंकि-ये तुष्टियें प्रकृति से भिन्न आत्मा को लेकर होती हैं इसी से ये आध्यात्मिकी हैं। इन की विशेष व्याख्या इस प्रकार है कि—

(क) किसी ने किसी को उपदेश दिया कि- विवेक साक्षात्कार (प्रकृति और आत्माके भेद को अपने अनुभवमें लाना) प्रकृति का ही परिणाम विशेष है, अतः उसे प्रकृति स्वयमृही करदेगी इससे तुझे ध्यान का अभ्यास नहीं करना चाहिये हे वत्स! तू इसी प्रकार रह। सो यह उस शिष्यको जो प्राकृती (•प्रकृति पर निर्भरता) तुष्टि होती है उसका नाम 'प्रकृति' (अम्भः) ही है।

(ख) [दूसरा उपदेश] यद्यपि वह विवेकख्याति प्रकृति से होती है, तथापि केवल प्रकृति से ही नहीं। क्योंकि–यदि प्रकृति से ही विवेक-ख्याति या तत्वज्ञान हो तो उस को सब के प्रति समान होनेके कारण सबको सब कालमें विवेकख्याति होना चाहिये? इस कारण हे वत्स! तू संन्यास धारण कर। संन्यास से तुझे वह ख्याति प्राप्त होगी। इस उपदेश से जो शिष्य को तुष्टि होती है, वह उपादान (सलिल) कहलाती है।

(ग) [तीसरा उपदेश] यद्यपि संन्याससे निर्वाण (मुक्ति) होती है, किन्तु तत्काल नहीं, अर्थात् वही संन्यास तुझे काल पाकर सिद्धि देगा, अतः तू उतावला मत हो, इस उपदेश से जो काल में तुष्टि होती है वह काल कहलाती है, दूसरा नाम इसका मेघ है।

(घ) [चौथा उपदेश] विवेक-ख्याति को न काल कर

सकता है, और न उपादान ही, किन्तु वह भाग्य से ही होती है इसीसे मदालसा के पुत्र अति बालक होने पर भी माता के उपदेश मात्र से ही विवेक-ख्यातिको प्राप्त हुये और मुक्त भी। उस में भाग्य ही कारण था, किन्तु और कुछ नहीं। इस उपदेश से जो भाग्य में तुष्टि है वह भाग्य (वृष्टि) कहलाती है।

जो तुष्टियें प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार आदि अनात्म वस्तुओं को आत्मा समझ कर वैराग्य से होजाती हैं, वे सब बाह्य तुष्टियें हैं। क्योंकि—आत्म-ज्ञान के न होने की अवस्था ही में वे अनात्म (बाह्य) वस्तु के अवलम्बन से होती हैं। इन तुष्टियों का कारण वैराग्य है, और वह वैराग्य ५ कारणों से होता है, अतः वह पांच प्रकार का समझा जाता है, तथा उसके कारण ही उस से होने वाली तुष्टियें भी ५ ही मानी जाती हैं। अर्थात्-भोग्य विषय शब्द आदि ५ हैं, और उनके उपरम (वैराग्य) भी ५ हैं। विषय की संख्या के समान इस के कारण भी (१) अर्जन (२) रक्षण (३) क्षय (४) भोग (५) हिंसा, ये पांच हैं, इससे भी वैराग्य या उपरम ५ हैं। इनकी विशेष व्याख्या इस प्रकार है—

(क) [अर्जन] धनके अर्जन या संग्रह करनेके उपाय सेवा आदि हैं, जो सेवक आदि को दुःखित करने वाले हैं। क्योंकि-सेवा में क्रोधी स्वामी से कभी * थप्पड़ या गर्दना आदि भी खाना पड़ता है। सुतराम् इन दुःखों को अनुभव करने वाले बुद्धिमान् उसमें प्रवृत्त नहीं होते। इसी प्रकार अन्य उपायों में भी दोष हैं, इस प्रकार जो विषयसे उपरम तुष्टि है वह 'पार' कहलाती है।

(ख) [रक्षण] धन किसी प्रकार इकट्ठा हो भी गया, तो उसके राजा, चोर, अग्नि जलप्रवाह आदि से नाश होजाने की

संभावना है, अतः उसकी रक्षा में महादुःख है, ऐसी भावना वाले को जो विषय से उपरम में तुष्टि है, वह दूसरी 'सुपार' तुष्टि है।

(ग) [क्षय] ऐसे ही बड़े परिश्रम से इकट्ठा किया हुआ धन भोग करने से क्षीण होजाता है, इस प्रकार उसके क्षय हो जाने की भावना करने वाले को जो विषय के उपरम में तुष्टि होती है, वह तीसरी 'पारापार' कहलाती है।

(घ) इसी प्रकार शब्द आदि विषयों के भोगाभ्यास से काम (मनोरथ) बढते हैं, और वे विषय की प्राप्ति न होने पर कामी पुरुषको दुःखित करते हैं इससे भोग दोषको जानने वालेको जो विषयसे उपरममें तुष्टि होती है, वह चौथी 'अनुत्तमाम्भ' कहलाती है।

(ङ) ऐसे ही दसरे प्राणियों की हानि किये विना या सताये विना विषयों का उपभोग नहीं हो सकता, इस हिंसा दोष को देख कर जो विषय से उपरम में तुष्टि होती है, वह ५ वीं 'उत्तमाम्भ' कहलाती है।

ऐसे चार आध्यात्मिकी और ५ बाह्य तुष्टियों को मिलाकर ६ तुष्टियें होती हैं ॥ ५० ॥

गौण और मुख्य सिद्धियें ॥

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयःसुहृत्प्राप्तिः ।
दानञ्चसिद्धयोऽष्टौसिद्धेःपूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः ॥५१॥

तीन दुःखों के नाश तीन मुख्य सिद्धियें हैं। और सब (१) अध्ययन (२) शब्द (३) ऊह (४) सुहृत्प्राप्ति और (५) दान ये ५ सिद्धियें गौण हैं।

सिद्धिके पूर्व जो विपर्यय अशक्ति और तुष्टि के भेद से तीन प्रकार की बुद्धि की सृष्टि (का० ४६ में) देखी गई है,

उसको अंकुश संज्ञा है। क्योंकि वह सिद्धि को रोकती है।

गौणसिद्धियें-(१) अध्ययन (तार) (२) शब्द (सुतार) (शब्दसे अर्थ का ज्ञान) (३) ऊह (तर्क) (तारतर) (४) सुहृत्प्राप्ति (मित्र मिलन) (रम्यक) और (५) दान (सुदामुदित) (विवेकज्ञान की शुद्धि)

मुख्यसिद्धियें-(१) आध्यात्मिक दुःख का नाश (प्रमोद) (२) आधिभौतिक दुःख का नाश (मुदित) और (३) आधिदैविक दुःख का नाश (मोदमान) (कुल ८ सिद्धियें)॥५१॥

प्रकारान्तर से सिद्धियें।

(१) ऊह--जिस में पूर्व जन्म के अभ्यास से आप से आप तत्व ज्ञान हो जावे।

(२) शब्द-जिस में दूसरे के सांख्य शास्त्रीय अध्ययन को सुन कर तत्वों का ज्ञान उत्पन्न हो।

(३) अध्ययन-जिस में गुरु और शिष्य के सम्बन्ध से संवाद पूर्वक ग्रन्थ और अर्थ दोनों प्रकार से सांख्य शास्त्र को अध्ययन करने से ज्ञान उत्पन्न हो।

(४) सुहृत्प्राप्ति--जिस में तत्वों के ज्ञाता मित्र की प्राप्ति से ज्ञान उत्पन्न हो।

(५) दान--जिस में धन के दान से सन्तुष्ट हो कर गुरु ज्ञान देवे, वह सिद्धि धन दान के कारण होने से 'दान' कहलाती है॥ ५१ ॥

प्रत्यय (बुद्धि) और तन्मात्र या भूत सर्ग का प्रयोजन

नविनाभावैर्लिङ्गं नविनालिङ्गेन भावनिर्वृत्तिः।
लिङ्गाख्योभावाख्यस्तस्माद्द्विविधःप्रवर्त्ततेसर्गः।५२।

बुद्धि तत्व से दो प्रकार की सृष्टि होती है, एक सृष्टि भाव-सृष्टि है और दूसरी लिङ्ग-सृष्टि है। पहिली भावसृष्टि

का संक्षेप धर्म आदि ८भेदों में और विस्तार ५० भेदों में कहा गया है। तथा दूसरी लिङ्ग सृष्टि, अहंकार के द्वारा ११ इन्द्रियों और ५ तन्मात्रों के रूप में है, जिस का विस्तार स्थूल देह आदि स्थावर जङ्गम सभी है। इन दोनों सृष्टियों के सम्बन्ध में यह प्रश्न होता है, कि बुद्धि ने दो सृष्टियें क्यों कीं, एक ही सृष्टि से भी उस की चरितार्थता हो जाती ? इसी के उत्तर के अर्थ यह कारिका है।

इस का भाव यह है, कि–धर्म, अधर्म आदि भावों के विना लिङ्ग या तन्मात्र की सृष्टि का सम्भव नहीं। क्यों कि पूर्व २ संस्कारों (धर्म अधर्म आदिकों) के अनुसार ही पिछले २ या अपूर्व २ शरीरों की प्राप्ति होती है। एवम् लिङ्ग आदि के विना धर्म आदि भी नहीं हो सकते। क्योंकि धर्म अधर्म आदि सब स्थूल सूक्ष्म देह के ही साध्य हैं। इस प्रकार बीज अंकुर के दृष्टान्त पर दोनों सृष्टियों का प्रयोजन है। इसे अन्योऽन्याश्रय दोष भी न समझना चाहिये, क्योंकि जो बीज जिस अंकुर से होता है, वह अंकुर उसी बीज से नहीं होता, बलकि–वह किसी दूसरे बीज से हुआ है। ऐसे ही अंकुर पक्ष को भी समझना चाहिये ॥ ५२ ॥

१४ प्रकार का भूत सर्ग।

अष्टविकल्पोदैवस्तैर्यग्योनश्चपञ्चधाभवति ।
मानुषकश्चैकविधः, समासतोभौतिकःसर्गः ॥५३॥

(क) ८ प्रकार का देव सर्ग (सृष्टि) है—(१) ब्रह्मा (२) प्रजापति (३) इन्द्र (४) पितर (५) गन्धर्व (६) यक्ष (७) राक्षस (८) पिशाच।

(ख) तिर्यग्योनि-सर्ग ५ प्रकार का–(१) पशु (२) मृग (३) पक्षी (४) सरीसृप (सर्पादि) (५) स्थावर (वृक्षादि)।

(ग) मनुष्य-सर्ग १ प्रकार का है। यह संक्षेप से १४ प्रकार का भूतसर्ग है ॥ ५३ ॥

तीन प्रकार से भूत सर्ग

ऊर्ध्वंसत्वविशालस्तमोविशालश्चमूलतःसर्गः।
मध्येरजोविशालो, ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥५४॥

पहिला ऊर्ध्व सर्ग है, जिस में सत्वगुण की प्रधानता रहती है, एवम् उसकी परिस्थिति द्यु लोक से सत्यलोक पर्यन्त है। २रा सर्ग मूलसर्ग या जीव की नीच गति का सर्ग है। इस में तमोगुण की प्रधानता है, इसी से यह मोहमय होता है, इस की गणना पशु से वृक्ष पर्यन्त है। और तीसरा मध्य (बीच) का सर्ग है, इस में रजोगुण की प्रधानता है, अतएव यह दुःख बहुल है, इस की गणना में सम्पूर्ण भूलोक है, जिस में सातों द्वीप और सातों समुद्र आजाते हैं ॥५४॥

सर्ग (सृष्टि) की दुःख रूपता।

तत्रजरामरणकृतं दुःखम्प्राप्नोति चेतनःपुरुषः।
लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्माद्दुःखंस्वभावेन ॥५५॥

उस पूर्वोक्त सृष्टि में सब स्थानों में जरा (बुढापा) और मरण के दुःख को चेतन पुरुष, लिङ्ग शरीर की निवृत्ति से पहिले प्राप्त होता रहता है। इस से संसार में दुःख स्वाभाविक है।

यद्यपि भिन्न २ शरीरों में भिन्न २ प्रकार का सुख भोग भी है, तथापि जरा मरण का दुःख सर्वत्र समान है।

जो बुद्धि के (प्राकृत) गुण हैं, वे सब लिङ्ग शरीर में रहते हैं, और लिङ्ग शरीर पुरुष का सम्बन्धी है। क्योंकि पुर (लिङ्ग) में शयन करने से ही वह पुरुष है। अतः लिङ्ग

के द्वारा अध्यासवश पुरुष में भी दुःखों का सम्बन्ध हो जाता है ॥ ५५ ॥

निःसन्देह उक्त सब सर्ग प्रकृति से ही हुआ है ।

इत्येषप्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः ।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थइवपरार्थआरम्भः ॥५६॥

(क) यह सब महत् तत्व आदि विशेष (स्थूल) भूत पर्यन्त जितना सर्ग है, वह सब प्रकृति का किया हुआ है। क्योंकि—

(१) सर्ग को अकारण मानने में सर्ग का अत्यन्त भाव (होता ही रहे कभी रुके नहीं) अथवा अत्यन्त अभाव ही हो (कभी सृष्टि हो ही नहीं)।

(२) ब्रह्म से भी सृष्टि नहीं। क्योंकि—चिति शक्ति में परिणाम का अभाव है।

(३) ईश्वर से अधिष्ठित प्रकृति से भी सृष्टि नहीं। क्योंकि—निर्व्यापार (व्यापार रहित) ईश्वर का अधिष्ठातृत्व हो नहीं सकता, अर्थात्—जब वह कुछ करता ही नहीं, तो वह अधिष्ठाता कैसे हो सकता या अधिष्ठाता उसे मान भी लिया जावे तो उससे क्या लाभ ? क्योंकि जैसे-क्रियाशून्य खाती की कुल्हाड़ी कुछ नहीं कर सकती।

(ख) प्रकृति का जो महत्तत्व (बुद्धि) आदि २३ तत्वों के रूप में आरम्भ या कार्य है, वही प्रत्येक पुरुष को क्रम प्राप्त (संयोगवश) मोक्ष का भी कारण हो जाता है। उस का आरम्भ ऐसा है, जैसा—कोई स्वार्थ के समान अपने मित्र के कार्य को विना अपने प्रयोजन के ही करे। हमें इसमें यह प्रतीति होती है, कि-इनके मतमें ईश्वर नहीं और न पुरुष में कोई क्रिया और ज्ञान आदि गुण ही है, जो कुछ है, वह

सब प्रकृति का ही है, और साक्षात् सम्बन्ध से उसी में रहता है। फिर अनादि काल से संसार में बंधा हुआ पुरुष छूट कैसे सकता है, यही प्रश्न इनके मनमें हुआ। यदि ये अनिर्मोक्ष को ही लेलेवें, तो इनके दर्शन को भी कौन पढ़े या कौन अन्धा इनके सम्प्रदाय के वश्य हो, सुतराम् इन्हें मोक्षका मार्ग भी बताना चाहिये जिसे और सब दर्शनकार भी अपने२ मतके अनुसार बता रहे हैं। यही सब सोच समझकर कह रहे हैं- " प्रति पुरुष०-०" अर्थात्–प्रकृति परिणाम शील है,तत्वज्ञान और उसके साधन भी सब प्राकृत हैं,इस रीति पर जब कभी तत्वज्ञान या प्रकृति पुरुष का भेदज्ञान हो जायगा, तभी निर्वाण (मोक्ष) हो जायगा। इस में दूसरे का कोई आरम्भ मानना निष्प्रयोजन है ॥५६॥

विना अधिष्ठाता के प्रधान की प्रवृत्ति में युक्ति

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथाप्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथाप्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥५७॥

जिस प्रकार वत्स (शिशु) की विवृद्धि या पोषण के लिये माता के स्तनोंका दूध अज्ञ होकर भी आपसे आप बहने लगता है, उसी प्रकार पुरुष के मोक्ष या निर्वाणके लिये ज्ञान शून्य (जड़) प्रकृति भी प्रवृत्त होती है। अभिप्राय यह है,कि-उसको अपने चेतन अधिष्ठाता ईश्वर की अपनी प्रवृत्ति में कोई अपेक्षा नहीं है। सुतराम् वह अपने सृष्टि कार्य में स्वतन्त्रता से प्रवृत्त होती है। इसीसे ईश्वर तत्वकी कल्पना भी विपक्षियों को अनावश्यक है ॥ ५७ ॥

" स्वार्थ इव " का दृष्टान्त।

औत्सुक्यविनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्त्ततेलोकः।

पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्त्तते तद्वदव्यक्तम् ॥ ५८॥

जिस प्रकार लोक अपने औत्सुक्य (चाव) या इच्छाओं को मिटाने के लिये क्रियाओं में प्रवृत्तहोता है,तथा उस कार्य के पूरी होने पर निवृत्तहो जाता है,वैसे ही अव्यक्त (प्रकृति) भी पुरुष के मोक्ष के अर्थ प्रवृत्त होता है तथा निवृत्त हो जाता है ॥ ५८ ॥

प्रकृति का प्रवर्त्तक तो पुरुषार्थ हो सकता है, किन्तु निवृत्ति कैसे होगी ?

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्त्तते नर्त्तकी यथानित्यात् ।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्यविनिर्वर्त्तते प्रकृतिः ५९

(समाधान–) रङ्ग (सभा) को नर्त्तकी (वेश्या) अपना नृत्य दिखाकर जिस प्रकार निवृत्त हो जाती है, उसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष के प्रति अपने आपे को दिखाकर निवृत्त हो जाती है । प्रयोजन यह है कि -उसे निवर्त्तक (निवृत्त करने वाले) की कोई अपेक्षा नहीं है, किन्तु निवृत्ति उसकी स्वाभाविक हो जाती है ॥ ५९ ॥

केवल परार्थ-- आरम्भ के आक्षेप का समाधान ।

नानाविधैरुपायै रुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः
गुणवत्यगुणस्यसतः तस्यार्थमपार्थकं चरति ॥६०॥

(जिस प्रकार कोई भृत्य स्वयम् उपकारी भी होकर निर्गुण या अनुपकारी स्वामी का निष्फल आराधन करता है, उसी प्रकार) यह तपस्विनी गुणवती उपकारिणी प्रकृति पुरुष को अनुपकारी और निर्गुणहोते हुये भी उसके अर्थ को विना प्रयोजन ही नाना प्रकारके उपायोंसे साधन करती है६०

वेश्या परिषद् को नृत्य दिखाकर निवृत्त हो जाती है,

और दर्शकों के कौतूहल के कारण फिर भी प्रवृत्त हो जाती है, ऐसे ही प्रकृति भी निवृत होकर फिर प्रवृत्त हो सकती है, जिस से कि- मुक्त हुए पुरुष का फिर बन्ध हो जाये ? इस आपत्ति के उत्तर के अर्थ यह कारिका है—

प्रकृतेःसुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीतिमेमतिर्भवति।
या दृष्टाऽस्मीति पुनर्नदर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥६१॥

'प्रकृति से अधिक सुकुमार और कोई वस्तु नहीं है' यह मेरी (ईश्वर-कृष्ण की) मति है । जो "दृष्टाऽस्मि" (मैं देख लीगई) इस बुद्धि से फिर पुरुष के देखने में नहीं आती ॥ ६१ ॥

बन्धन (संसार) और मोक्ष पुरुष के नहीं, प्रकृति के हैं

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥६२॥

तिस (इस) कारण से (का० ६१) वह पुरुष न बन्धन को प्राप्त होता है, न संसरण करता है अर्थात् एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीरमें नहीं जाता, और न मोक्षको ही प्राप्त होता है, किन्तु नाना गुणोंको आश्रय करने वाली प्रकृति ही संसरण करती है, बद्ध होती है, और मुक्त होती है ॥६२॥

प्रकृति के बन्ध और मोक्ष के साधन ।

रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः ।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥ ६३ ॥

धर्म आदि ७ भावों से प्रकृति अपने से अपने को बांध लेती है, और वही प्रकृति पुरुषार्थ (मोक्ष या अपवर्ग) के प्रति एक भाव (तत्व ज्ञान) से अपने को मुक्त कर देती है तथा फिर भोग और अपवर्ग (मोक्ष) को नहीं करती ॥६३॥

सांख्य शास्त्र के तत्व का उपयोग ।

एवं तत्वाभ्यासान्नास्मि नमे नाहमित्यपरिशेषम् ।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवल मुत्पद्यते ज्ञानम् ॥६४॥

इस सांख्यशास्त्र की रीति से जो तत्वों का निर्णय या निरूपण किया गया है उसके अनुसार तत्वों के अभ्यास करने से, उस में आदर करनेसे, निरन्तर दीर्घ काल तक मनन करने से प्रकृति और पुरुष के भेदको साक्षात्कार करने वाला ज्ञान उत्पन्न होता है, जो अविपर्यय या संशय तथा भ्रम से रहित होनेके कारण विशुद्ध, मिथ्या ज्ञानसे अमिश्रित होनेके कारण केवल, और किसी विषयका भी अपरिज्ञान न होनेके कारण अपरिशेष (सम्पूर्ण) होता है। उस ज्ञानका स्वरूप- "नास्मि" (मैं क्रिया शून्य हूं) " नाहम् " (अकर्त्ता हूं) " नमे " (स्वामिता रहित हूं) यह है ॥ ६४ ॥

पूरे विशुद्ध केवल ज्ञान का फल ।

तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात्सप्तरूपविनिवृत्ताम् ।
प्रकृतिंपश्यतिपुरुषःप्रेक्षकवदवस्थितःस्वच्छः ॥६५॥

उस विशुद्ध तत्व ज्ञान से भोग, और विवेक के साक्षात्कार के प्रसव से निवृत्त, तथा विवेक ज्ञानरूप अर्थ के वश या सामर्थ्य से धर्म आदि ७ रूपों से निवृत्त हुई हुई प्रकृति को पुरुष दर्शकके समान अवस्थित और निष्क्रिय होकर देखता है, किन्तु उस अवस्थामें भी सात्विकी बुद्धिसे पुरुष का संभेद रहता है, अथवा उसकी छाया पुरुषमें पड़ती रहती है, अन्यथा ऐसी प्रकृति का दर्शन भी नहीं घट सकता ॥ ६५ ॥

मोक्ष के अनन्तर प्रकृति और पुरुष के रहते हुये भी सर्ग (सृष्टि) क्यों नहीं ?

दृष्टामयेत्युपेक्षकएको, दृष्टाऽहमिति विरमत्यन्या ।

सतिसंयोगेऽपितयोः प्रयोजनंनास्ति सर्गस्य ६६

" मैं इसे देख चुका " इस बुद्धि से उन दोनों में एक अर्थात् पुरुष प्रकृतिसे उपेक्षा कर देता है, और दूसरी प्रकृति इस लिये विरत या निवृत्त होजाती है कि-" मैं देखली गई " ऐसा उसे अपना प्रयोजन भाव प्रतीत होता है। इस कारण दोनों को उदासीन होने से उनका संयोग होने पर भी सर्ग (सृष्टि) का प्रयोजन नहीं है ॥ ६॥

तत्वज्ञान के अनन्तर शरीर की स्थिति।

सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ।
तिष्ठतिसंस्कारवशात्, चक्रभ्रमिवद्धृतशरीरः॥६७॥

जब यथेष्ट (जैसा चाहिये) तत्वों का साक्षात्कार उदय होजाता है, उस समय धर्म आदि अकारण होजाते हैं,-किसी कार्य के उत्पन्न करने में समर्थ नहीं रहते-जले हुये बीज के समान सुख दुःखरूप अंकुरों को उत्पन्न नहीं कर सकते, इसी से अब जो शरीर वर्त्तमान है वह कैसे रहे? किन्तु जैसे कुम्हार का चक्र एकवार घुमाकर छोड़ देने पर भी कुछ देर वेग के अधीन घूमता रहता है, ऐसे ही इस अन्तिम शरीर को जिस प्रारब्ध कर्मने प्रवृत्त किया है, उसके समाप्त होने तक यह उसी के अधीन खड़ा रहता है (अर्थात्-वेग के पूरा होते ही जैसे कुम्हार का चक्र निष्क्रिय होजाता है, ऐसे ही यह शरीर भी अपनी अन्तिम लीला को पूरी कर देता है-गिर जाता है या अपने अव्यक्त कारण में लीन हो जाता है। बस संसार उस पुरुष का पूरा होचुका तथा वह निर्वाण पद को प्राप्त होगया फिर उसे संसार न होगा। दीपक के निर्वाण (बुझ जाने) के दृष्टान्त से ही मोक्ष का नाम भी निर्वाण है) ॥६७॥

यदि संस्कारवश से शरीर है भी, तो कब इसका मोक्ष होगा?

प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥६८॥

संचित सम्पूर्ण कर्माशयों (धर्म अधर्मों)का तत्वज्ञानरूप अग्नि से बीजपना (अंकुर उत्पन्न करने की शक्ति) दग्धहो गया, तथा प्रारब्ध (जिनका भोग वर्त्तमान है या जिनका फल स्वरूप यह वर्त्तमान शरीर है) कर्मों का भी उपभोग होचुका इससे शरीर (इस अन्तिम शरीर) का भेद (नाश) प्राप्त होते ही प्रधान को कृतकार्य होजाने से वह भी निवृत्त होजाता है, तथा पुरुष भी उस समय ऐकान्तिक (अवश्यंभावी) और आत्यन्तिक (अविनाशी) कैवल्य (मोक्ष) को प्राप्त होजाता है, जिसका प्रस्ताव ग्रन्थ के आरम्भ में "एकान्तात्यन्ततोऽभावात्" वाक्य से किया गया था ॥६८॥

शास्त्र का आविष्कार ।

पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम् ।
स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम् ॥६९॥

यह गुह्य (गुफामें रहने वाला जैसा) या स्थूल बुद्धि वालों को दुर्ज्ञेय पुरुषार्थ-ज्ञान (सांख्यशास्त्र) परमर्षि कपिलदेवने प्रथम समीचीन रीति से आख्यान किया था, जिसमें ज्ञान के निमित्तभूतों (पदार्थों) की स्थिति उत्पत्तिऔर प्रलय चिन्तन किये जाते हैं ॥६९॥

एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम् ७०

इस पवित्र श्रेष्ठ शास्त्र को मुनि कपिलदेवने आसुरिनाम अपने शिष्य के लिये अनकम्पा (दया) से प्रदान किया था,

आसुरिने अपने पञ्चशिख नाम शिष्यको दिया, और उस पञ्चशिखने इस शास्त्र को बहुत विस्तृत किया तथा प्रचार किया ॥ ७० ॥

शिष्यपरम्परयाऽऽगत मीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः।
संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग् विज्ञाय सिद्धान्तम् ।७१।

इसी प्रकार शिष्य परम्परा से आये हुये इस शास्त्र को आर्यमति (श्रेष्ठबुद्धि ईश्वरकृष्ण ने समीचीन या उत्तम प्रकार से सिद्धान्त को जान कर आर्या छन्दों में संक्षेपसे कहा ॥७१॥

सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य ।
आख्यायिकाविरहिताः परिवादविवर्जिताश्चापि ७२

जो अर्थ ७० आर्या छन्दोंमें कहे गये हैं वेही अर्थ सम्पूर्ण षष्टितन्त्र या ६० पदार्थों के प्रतिपादक सांख्यशास्त्र के हैं। क्यों कि-इसमें आख्यायिकाएं और दूसरे शास्त्रों के वाद छोड़दिये गये हैं ॥७२॥

इति हिन्दीसांख्य दर्शनम्



श्रीहरिः शरणम्

सांख्य, न्याय और वैशेषिक

दर्शन का जीवात्मा

(सांख्य)

सांख्यदर्शन में आत्मा को किस प्रकारका माना गया है, इस प्रश्न के सम्बन्ध में जितनी बातें उस दर्शन में बताई गई हैं या स्वीकार की गई हैं, नीचे दिखाई जाती हैं–

१

सांख्यशास्त्रके आचार्य कहते हैं कि-आत्मामें सत्व, रजस् तथा तमोगुण नहीं है। प्रधान या प्रकृति से बिलकुल भिन्न है न प्रकृति या उसके महत्तत्व आदि कार्यों का उसमें कोईअंश सम्मिलित है, और न आत्मा ही का उनमें है। सर्वसाधारण का वह विषय नहीं है,किन्तु योग सम्पन्न या तत्वज्ञ पुरुषही उसे जान सकते हैं। चेतन है। सरूप या अपने समान तथा अपने से विलक्षण परिणाम से रहित है,अर्थात् वह किसी कार्यको उत्पन्न नहीं करता, जैसे कि-मृत्तिका घट, शराव आदि अनेक कार्यों को उत्पन्न करती रहती है।

उपर्युक्त सब धर्म ऐसे हैं, जो प्रकृति या उसके कार्यों में (महत्तत्व अहंकार, मन, चक्षुः, श्रोत्र, घ्राण, रसन, त्वक्, वाक् हस्त, पाद, गुद, उपस्थ, (लिङ्ग या योनि) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी में) नहीं रहते हैं।

१–हेतुमदनित्यमव्यापि, सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्। सावयवं परतन्त्रं, व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥ त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि। व्यक्तं तथा प्रधानं, तद्विपरीतस्तथाच पुमान्॥

(सां० त० कौ० श्लोक १०;११)

आत्मा अनेक या अनन्त हैं यह अनेकत्व धर्म व्यक्त या प्रकृति के कार्य भूत महत्तत्वादिकोंका साधारण धर्म है। जैसे कि—आत्मा अनन्त हैं, उसी प्रकार महत्तत्वादिक भी सब अनन्त हैं।

अब आत्मा के वे धर्म कहे जाते हैं, जो प्रकृति या प्रधान से मिलते हैं।

आत्माका कोई उत्पन्न करने वाला या कारण नहीं है। इसीसे वह नित्य है। विभु अर्थात् व्यापक है, किसी स्थानमें भी उसका अभाव नहीं है। उसमें कोई क्रिया नहीं होती। वह किसीमें आश्रित होकर नहीं रहता। प्रधान या प्रकृति का वह अनुमान करानेवाला भी नहीं है, जैसे धूम, अग्निका अनुमापक है। उसमें कोई अवयव विभाग नहीं है, जैसेकि-वस्त्र में सूत्र तथा घटमें कपाल है। तथा आत्मा स्वतन्त्र है, अर्थात् जैसे पुरुषका अंश उसके बेटे-पोतों में अनुवर्त्तमान होता है, दीपक का तैल उसकी बत्तीमें आता रहता है, तथा प्रकृतिका अंश उसके कार्य महत्तत्व में और उसका उसके कार्य अहंकार में पूरण होता रहता है, वैसे आत्मा में किसी वस्तु का आपूर जो उक्त दृष्टान्तों में दिखाया गया है, नहीं होता। क्यों कि-वह किसी से उत्पन्न नहीं होता। उक्त सब लेख का संक्षिप्त तात्पर्यार्थ यह है कि-आत्मा शुद्ध स्फटिक के समान स्वच्छ या निर्गुण, आकाश के समान विभु (व्यापक) तथा नित्य और संख्या से अनन्त हैं।

सांख्य का लिङ्ग शरीर।

सांख्य के मत में सृष्टि के आरम्भ काल में प्रधान या प्रकृति एक २ आत्मा के पीछे एक २ लिङ्ग शरीर को उत्पन्न करती है। वह लिङ्ग शरीर अव्याहत होता है, अर्थात् शिला

में भी प्रवेश कर जाता है, संसार में कोई ऐसी कठोर वस्तु नहीं है, जिस में वह प्रवेश न कर सके। सृष्टि के आरम्भ से महाप्रलय तक बना ही रहता है। महत्तत्व (१) अहकार (२) मन (३) चक्षुः (४) श्रोत्र (५) घ्राण (६) रसन (७) त्वक् (८) वाणी (६) हस्त (१०) पाद (११) गुद (१२) उपस्थ (लिङ्ग या योनि) (१३) रूप (१४) रस (१५)गन्ध (१६) स्पर्श (१७)शब्द (१८) इन अठारह तत्वों का समुदाय रूप है। यही लिङ्ग शरीर पूर्व २ स्थूल शरीर को छोड़ता और नवीन २ को ग्रहण करता है। इस लिङ्ग शरीर के विना स्थूल शरीर आत्मा के भोग का साधन नहीं, बनता, इसी से इसकी कल्पना करनी पड़ती है। धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य ये आठों भाव इसी लिङ्ग शरीर में रहते हैं, इसीसे जन्म-मरण रूप संसार इसीको होता है, और इसी के द्वारा इसके आत्माका होता है, जो इसके साथ सम्बन्ध रखता है। वास्तव में उक्त आठों भाव, बुद्धि-जिसको महत्तत्व या अन्तः करण कहते हैं,और जो लिङ्ग शरीरके अठारह तत्वों में से एक है, उसी में रहते हैं, और उसमें रहने के कारण ही लिङ्ग शरीर में माने जाते हैं। महाप्रलयके अनन्तर जैसे कि-प्रधान बना रहता है नहीं रहता है किन्तु उसी प्रधान में जिससे कि-यह सृष्टि के आरम्भ कालमें उत्पन्न होता है, लय होजाने से ही इसे 'लिङ्ग' कहते हैं।

मोक्ष।

प्रकृतिका परिणाम बुद्धि है, अर्थात्-सृष्टि के आरम्भमें प्रकृति से पहले बुद्धिही उत्पन्न होती है, इस के महत्तत्व और अन्तःकरण ये दो नाम और हैं। सांख्य-- मतमें इसी बुद्धिमें सुख दुःख रहते हैं, इसीके सुख दुःखोंकी छाया आत्मा

में पड़ती है, इसीसे आत्मा सुख, दुःख वाला प्रतीत होता है इसी छायाको पुरुषका संसार समझना चाहिये । प्रकृति परुषके विवेक ज्ञानसे बुद्धिका नाश होजाता है, और उसके नाशके साथही सुख दुःखोंका भी नाश होजाता है, आत्मामें जिनकी छाया पड़ती है, उनके न रहनेसे आत्मा भी शुद्ध रह जाता है, इसी आत्मा की अवस्था का नाम मोक्ष है ।

न्याय-वैशेषिकका आत्मा ।

न्याय व वैशेषिक दर्शनके आचार्य कहते हैं कि-आत्मा विभु या व्यापक है (१) संख्यासे अनन्त है अर्थात् कितने आत्मा हैं, ऐसे गिना नहीं जासकता (२) नित्य है, अर्थात् भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों में बना ही रहता है, उसका अभाव कभी नहीं होता (३) तथा प्रतिशरीर भिन्न होता है, एक कालमें उस का एकही शरीर से सम्बन्ध होता है, उसीमें सुख दुःखोंका उपभोग करता रहता है,यद्यपि वह सकल लोकों में रहता है, तो भी वह भिन्न लोकमें भी एक समयमें दूसरे शरीर को धारण नहीं कर सकता, किन्तु एक शरीरके नष्ट होनेके पश्चात् दूसरे शरीरको सृष्टि व महाप्रलय के मध्यकालमें मोक्ष होनेसे पहिले अवश्य ही धारण करता है (४) यह चारों बातें सांख्यवाले भी इसी प्रकार से आत्मामें स्वीकार करते हैं ।

---

(१) "विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मा" (वै० ७, १, २२) "जीवात्मा प्रति शरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च" (तर्क सं०)

(२) "नानात्मानोव्यवस्थातः" (व० ३, २, २०)

(३) "पूर्वाभ्यस्तस्मृत्युनुबन्धाज्जातस्यहर्षभयशोकसंप्रतिपत्तेः" (न्याय द० ३, १६१)

(४) "शरीरोत्पत्ति निमित्तवत्संयोगोत्पत्तिनिमित्तकर्म" (न्याय द० ३, १, ६६)

इसके अतिरिक्त आत्मा में संख्या, परममहत्व-परिमाण पृथक्त्व, संयोग, विभाग, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न धर्म, अधर्म, भावना-संस्कार,-जिससे कि-अनुभूत वस्तु का कालान्तर में स्मरण होता है, ये चौदह गुण रहते हैं, किन्तु सांख्य के समान निर्गुण नहीं है। (५)

न्याय और वैशेषिक दर्शन का मन।

न्याय तथा वैशेषिक दर्शन में लिङ्ग शरीर की कल्पना नहीं है, वे लिङ्ग शरीर का कार्य केवल मन से ही ले लेते हैं, जीवन काल में तो उन के मत में सूक्ष्म या लिङ्ग शरीर जो सांख्यमत में अठारह तत्वों से बना हुआ होता है, उस का कोई प्रयोजन नहीं है, शरीर के सब कार्य स्थूल शरीर से ही निकल जाते हैं, किन्तु मरण के पश्चात् जब एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर में मनको प्रवेश करना पड़ता है, अथवा स्वर्ग तथा नरक में दूर देश में वहां के शरीर में प्रवेश करनेके लिये उसे जाना पड़ता है, उस काल में एक सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति मानते हैं, जिसका नाम प्रशस्तपादाचार्य जो वैशेषिक दर्शन के भाष्यकार हैं " अतिवाहित " बताते हैं, इस शरीर की उत्पत्ति के मानने की आवश्यकता इन्हें इस लिए हुई कि सृष्टि के आरम्भ से महाप्रलय पर्य्यन्त शरीर में प्रवेश करकेही मन कार्य करता है। विना शरीर के सृष्टिकालमें कार्य कर्त्ता हुआ नहीं देखा जाता है।

उस काल में भी इस अतिवाहिक शरीर की कल्पना प्रशस्तपादाचार्य के वचन से ही प्रतीत होती है सूत्रकार केवल मनकी ही गति कहते हैं।

---

(५) "तस्यगुणाः बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्म संस्कार संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः" (प्रशस्तपाद-भाष्यम्)

मरणानन्तर मन में क्रिया तथा अतिवाहित शरीर की उत्पत्ति अदृष्ट वश से होती है । जीवनकाल में पहिले आत्मा में कोई प्रकार की इच्छा या द्वेष उत्पन्न होकर, प्रयत्न उत्पन्न होता है, उसकी सहायताको लिये हुए आत्मा और मनका संयोग होता है, उसी से फिर नेत्र तथा श्रोत्र आदि इन्द्रियों के साथ संयोग होने के लिये मन में क्रिया होती है, क्यों कि- जैसा अभिप्राय होता है, उसी के अनुसार अन्य इन्द्रियों से विषयों, (रूपरसादिकों) का ज्ञान होता है । स्वतंत्रता से कोई इन्द्रिय किसी वस्तु के ज्ञानको उत्पन्न नहीं कर सकता इसी लिये आत्मा और चक्षुः आदि इन्द्रियों के बीच में मन के सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ती है । क्यों कि- आत्मा व्यापक होने से सदा ही सब इन्द्रियों से सम्बन्ध रखतो है, यदि बीच में कोई अन्य वस्तु न हो तो सब इन्द्रियोंसे दर्शन आस्वादन आदि कार्य एक ही काल में हो जावें, किन्तु ऐसा होता नहीं है ॥

न्याय-वैशेषिक दोनों दर्शनों में मनके अतिरिक्त अन्य चक्षु आदि सब इन्द्रिय शरीर के साथ ही उत्पन्न होते हैं; और उसके नाशके साथ नष्ट होजाते हैं । केवल मनही आत्मा का निरन्तर साथदेना रहताहै जब तककि- महाप्रलय न हो ।

महाप्रलयके अनन्तर फिर सृष्टि के आरम्भसे पहिले निस्तब्ध (निश्चेष्ट) जैसा रहता है, जब सृष्टि का आरम्भ काल आताहै अदृष्ट (धर्म, अधर्म) के अनुसार उसमें क्रिया होने लगती है, जिसके कारण वह उस समयमें नवीन उत्पन्न हुए शरीरमें जा ३ वे ग करताहै । सृष्टिके आरम्भ कालमें सब आत्माओंके लिए जैसा २ अदृष्ट हो अलग २ शरीर उत्पन्न हो जाते हैं, और प्रत्येक आत्माओंके जो भिन्न २ मन हैं, वे उस उस

के शरीरमें प्रवेश कर लेते हैं। उसी समयसे फिर सब जीवात्मा अपने २ धर्म व अधर्मके अनुसार सुख दुःखोंको भोगने लगते हैं

न्या० वै० मोक्ष।

जब पुरुष ईश्वरार्पण बुद्धिसे निषिद्ध वर्जित कर्मोंका अनुष्ठान करता है, जिससे कि-फिर कोई नवीन सुख दुःखका बीज उसके आत्मा में उत्पन्न नहीं होता, और पूर्व संचित पाप पुण्यकी थैली भोगते २ खाली हो जाती है, उसी समय जीव का बन्धन टूट जाता है अर्थात् उसके पीछे जो परमाणु रूप मनका अदृष्टकारित सम्बन्ध लगा हुआ है, टूट जाता है, और जीव मुक्त हो जाता है। उस समय मन भी जड़ता को धारण कर लेता है आत्मा के साथ किसी प्रकारके कार्य करने की उसमें शक्ति नहीं रहती।

सांख्य, न्याय और वैशेषिक

तीनों दर्शनोंकेतात्पर्यका उद्घाटन

तीनों दर्शनोंके मतमें आत्मा नाना और विभुहै, अन्य२ आत्मा के विशेषणों में न्याय और वैशेषिक दर्शन दोनों समान विचार हैं,किन्तु सांख्य प्रायः उनसे पृथक् मार्ग पर चलता है। जिन बातोंमें उक्त दोनों पक्ष विभिन्न मत हैं, उनके सम्बन्ध में पहिले लिखा जा चुका है, अब उनके तुल्य सिद्धान्तों के अवलम्बन पर सम्मिलित भाव प्रकाशित किया जाता है।

ये तीनोंही दर्शनकार आत्मा को संख्यासे अनन्त और परिमाण से परम महान् समझते हैं। जितने जीवात्मा हैं, सभी आकाश तथा परमात्मा के समान व्यापक हैं,जिस प्रकार आकाश का अनुमान मात्र होता है, उसी प्रकार शुद्ध आत्मा भी अनुमान से ही निश्चित होता है, किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण का गोचर नहीं है। व्यापक होनेसे आत्मा चल फिर नहीं सकता

जो कुछ चलना फिरना होता है, वह सब शरीरों का है। मृत्यु के समय में भी आत्मा शरीर को छोड़ नहीं सकता। शरीर का छोड़ना तथा ग्रहण करना मन या सूक्ष्म शरीर का कार्य है स्वर्ग और नरक में मन या लिङ्ग शरीर ही आता जाता रहता है, आत्मा व्यापक होनेसे सदा ही स्वर्ग व नरक आदि सकल स्थानों में रहता ही है, सर्व काल में सब स्थानों में रहने पर भी सब स्थानों के सुख दुःखों को नहीं भोगता, किन्तु जहां उस का मन या लिङ्ग शरीर चला जाता है, वहीं सुख दुःखों को भोगता है सब स्थानों में आत्मा ज्ञान शून्य रहता है, किन्तु उसका मन जितने आत्मा को आकलित या व्याप्त कर लेता है उतने ही आत्म देश में ज्ञान रहता है मन परिमाण से अत्यन्त सूक्ष्म अथवा परमाणु रूप है वह कुछ बड़ा नहीं है उस परमाणु रूप मन के देश में ही जहां वह रहे या चला जाय, वहीं जितना आत्मा परमाणु परिमाण है, सुख दुःखों का अनुभव करता है, उस स्थान के अतिरिक्त अन्य सब विश्वव्यापी आत्मा सदा मुक्त तथा जड़ रूपसे अविशिष्ट रहता है, मानों एक मच्छर ने महाकाश को बद्ध कर रक्खा है, मच्छरके भीतर महाकाश के एक सूक्ष्म भाग के आजाने से महाकाश बद्ध हो जाता है, किन्तु उसके अतिरिक्त उस जगद्व्यापी महाकाशके मुक्त महाभाग से मुक्त नहीं, ऐसी ही सूक्ष्म शरीर या मन के कारण विभु आत्मा की शोच्य अवस्था है, संसारावस्था में जीवात्मा का यह वृत्तान्त है, मुक्तावस्था में समीप २ तीनों ही दर्शनों के मतमें संसारावस्था के समान जीवात्मा का (१) मन से संयोग नहीं छूटता, क्यों कि नित्य और परमाणु रूप होने से वह विभु आत्मा से बाहर जावे भी कहां? केवल उस के अदृष्टकृत सम्बन्ध का अभाव मात्र होता है प्रयोजन यह

१-सांख्य के सत्कार्यवाद के अनुसार अव्यक्त रूपमें है।

है कि-पहिले के समान आत्मा के अन्तर्गत रह कर भी मन उससे उदासीन होजाता है, पहिले उस महान् आत्माके किसी एक स्थान में सुख दुःखोंका कांटा या मच्छर सा लड़ता रहता था, किन्तु अब वह लड़ना बन्ध होगया मुक्तावस्था से पहिले भी सूक्ष्म शरीर के मच्छर से अन्य स्थल में ज्ञान शून्य होने के कारण आत्मा मुक्त के अविशेष ही था, अब केवल उसके महत् स्वरूप में मच्छर का खटका ही कम हुआ है, आत्मा में कुछ चेतनपना है, तो यही है कि मुक्तावस्था से पहिले संसार दशा में मनके सम्बन्धसे उसे एक परमाणु देशमें ज्ञान होता है, ऐसी चेतनतो उसके मनोरूप छोटे से घर के भीतर ही रहती है, उस के बाहर आकाश से विशिष्ट उस में कोई अधिक महत्वकी बात नहीं है, जिस प्रकार कोई मनुष्य पुष्पों की गठरी को शिर पर रखकर जहां ले जाता है वहीं गठरी के भीतर रहते हुये पुष्प चले जाते हैं, उसी प्रकार मन या लिङ्ग जहां चलता रहता है, उसी के अन्तर्देश में बुद्धि, सुख, दुःख आदि धर्म भी रहते हुए खिसकते रहते हैं, जैसे २ शरीर गति के अनुसार एक देश से दूसरे देश में जाता है, वैसेही वैसे आकाश के समान पिछला २ आत्मा का भाग पीछे रहता जाता है, और आगे २ का आत्मभाग शरीर में आता जाता है, जिस प्रकार शरीर में सदा ही पूर्व२ का वायु निकलता रहता है, और नवीन २ भरता रहता है, वही व्यवस्था शरीर की गति के साथ शरीर में आत्म-भाग के सम्बन्ध की है।

मोक्षावस्था में जब तत्व-ज्ञान होता है, जिस से कि-उससे उस मनोरूप मच्छर का सम्बन्ध टूटेगा उसी आत्मदेश में तत्वज्ञान नहीं होता जिसमें कि-पहिले अज्ञान था, अर्थात् शरीर में निरन्तर आत्मदेशके परिवर्त्तन की धारा उस

की गतिके अनुसार अविच्छिन्न ही रहती है, जिस आत्मदेश को "मैं शरीरी हूं" "मैं सुखी हूं" "मैं दुःखी हूं" ऐसा ज्ञान होता है, उसी में "मैं अशरीरी हूं" "मैं सुख दुःख रहित तथा विभू हूं" ऐसा ज्ञान नहीं होता, सर्वथा अन्य आत्मदेशमें अज्ञान और अन्यही आत्मदेशमें ज्ञान उत्पन्न होता, अन्य ही देश बद्ध और अन्य ही मुक्त होता है ।

सम्पूर्ण आत्मा में बंधन तथा मोक्षका प्रभाव नहीं पड़ता । क्योंकि मनोदेश के अतिरिक्त देशमें आत्मा को न ज्ञान होता है, और न सुख दुःख आदि की प्रतीति होती है, इसी से वह अन्य देश में मुक्त ही रहता है ।

सब शरीरों में सभी आत्मा रहते हैं, तथा उनके वहां रहने में किसी की अपेक्षा किसीमें विशेष नहीं है, देवदत्त के शरीर में जिस प्रकार देवदत्तका आत्मा रहता है उसी प्रकार अन्य सम्पूर्ण आत्मा रहते हैं, किन्तु देवदत्त के मन के संयोग से देवदत्त के आत्माको ही ज्ञान होता है, अन्य सब आत्मा जो वहां उसके समान ही रहते हैं, उन्हें किसी प्रकारका बोध नहीं होता, जैसे आकाश कदाचित् संख्या से अनन्त हों, और वे सब मिल कर एक हो सकते हैं, इसी प्रकार सब आत्माभी मिल कर एकीभाव से रहते हैं, उनके विभाग का करने वाला कोई अन्य पदार्थ इन शास्त्रों में कल्पित नहीं है कि-जिसके मध्य में पड़ने से सब आत्मा परस्पर भिन्न रहें । विभु आत्मा के भेद के स्वीकार करने में इन्हें यही आवश्यकता थी कि यदि एक ही आत्मा रहा तो एक के मुक्त होने पर सब जीव मुक्त होजायगे, अर्थात्-संसार में कोई न कोई मुक्त होते ही सब संसार ही लय हो जायगा, सब संसार का एक दम नष्ट

होना तथा कभी कोई एक आत्मा मुक्त न हो ये दोनोंही बातें इनको स्वीकृत नहीं हैं ।

दूसरी बात यह है कि-एकही आत्मा रहे तो सभी जीवोंको एक के सुखी या दुःखी होनेपर सुखी या दुःखी होना पड़ेगा, किन्तु ऐसा नहीं होता है, इस लिए नाना आत्मा मानना आवश्यक है ।

आत्माको विभु या व्यापक इसलिए मानते हैं कि-यदि विभु न हो, किन्तु परमाणु रूप ही हो तो शरीरके सर्व देशोंमें कण्टकादि वेधसे दुःख और अनुकूल द्रव्यके संयोग से सुखकी प्रतीति होती है, यह दोनों बातें न होंगी, किन्तु नाना आत्मा जब विभु हैं तो वे तत्वतः अलग २ किस रीति पर सिद्ध होंगे या ख्यालमें आवेंगे, इस बातकी अधिक चिन्ता नहीं की ।

व्यापक आत्माके जन्म, मरण बन्ध, मोक्ष तथा स्वर्ग, नरकआदि लोकोंमें गमन की व्यवस्था कर ली है, जैसेकि-पहिले दिखाई जाचुकी है ।

शरीरके बराबर विभुत्व (व्यापकत्व) मानने में शरीर की वृद्धि व ह्रासके साथ आत्माकी भी वृद्धि तथा ह्रास मानना होगा, जिससे आत्माकी अनित्यता आती है, इसलिए पूर्ण रूपसे आकाशके समान आत्माको विभु मानने को ये बाध्य होते हैं ।

शुभ, अशुभ कर्मों से उत्पन्न होने वाले धर्म अधर्म, जिन से आत्माओंको स्वर्ग और नरक आदि का भोग होता है, वे सब नित्य सम्बंध से आत्मा में ही रहते हैं ।

जिस आत्माके शरीर द्वारा कर्मों का अनुष्ठान होता है, उनसे होनेवाला अदृष्ट (धर्म-अधर्म) उसी आत्मामें रहता है, और उस का परिपाक होने पर उसी आत्मा को उसके तत्लो-

कीय (जो उस लोकमें उत्पन्न हुआ है-) शरीर के द्वारा उस के स्वर्ग नरक आदि रूप फलोंका उपभोग होता है।

सब आत्माओंके समान देश होने परभी लिङ्ग या स्थूल शरीर किसी एकही आत्मासे सम्बन्ध किस प्रकार करता है? और किस रीति पर भिन्न २ शरीर पृथक् २ आत्माओंको कृतकर्म या कर्म सम्बंधी बना देते हैं? तथा-किस चाल पर अलग २ आत्मा, फलों का उपभोग कर लेते हैं? इन विचित्र प्रश्नोंका उत्तर यही देते हैं कि-पृथक् २ मनों या लिङ्ग शरीरोंका सम्बन्ध, पृथक् आत्माओंके साथ अनादि कालसे चला आता है, एक मन या लिङ्ग शरीरका सभी आत्माओंसे समान रूप से संयोग होने परभी अपने आत्मा से उसका विलक्षण सम्बंध है. उसी के कारण उसके द्वारा अपने ही नियत आत्मा को फलोपभोग करता है, अन्य आत्माभी उसी प्रकार से भिन्न २ देशीय अपने २ लिङ्ग शरीरोंके द्वारा उपभोग करते हैं

मोक्षके पश्चात् लिङ्ग शरीरका नाश होजाता है, उसकी स्थिति का काल आत्माकी संसारके सम्बन्धके आरम्भसे मोक्ष होने तक ही है, नैयायिक तथा वैशेषिक दर्शनके मतमें मन नित्य है, और सब इन्द्रिय अनित्य हैं, इस कारण मोक्षके अनन्तर मन निष्फलही उड़ता फिरता है, और अमुक्त आत्मा बहुत हैं, किन्तु उनके प्रति नियत मन पृथक् २ हैं, इसलिए उनके साथ उस अनाथ मनका उपयोग नहीं।

उसका नाश इसलिए नहीं मानते कि-उनके मतमें परमाणु रूप सब द्रव्य नित्य हैं उनका नाश नहीं होता है। यही सिद्धान्त मनके नाश माननेमें गले पड़कर उन्हें उसके नाश मानने से हटा देता है।

सांख्यने न्याय वैशेषिक के समान आत्मामें ज्ञान, इच्छा,

प्रयत्न, सुख, दुःख, द्वेष, तथा धर्म अधर्म साक्षात् सम्बन्ध से स्वीकार न कर उसको शुद्ध स्फटिक पाषाण के समान स्वच्छ या निर्गुण माना है, उस में ज्ञान आदि गुणों का सम्बन्ध ऐसा स्वीकार किया है, जैसा कि-लाल पुष्प पर काच या स्फटिक धरनेसे उसमें साक्षात् जैसा लाल रङ्ग प्रतीत होने लगता है, किन्तु वास्तविक नहीं, परमार्थतः—उनके मतमें अन्तःकरण में ही उक्त सब गुण रहते हैं, उससे वह अन्य दोनों दर्शनों में जो कई एक झंझट उपस्थित हो जाते हैं, उनसे बच जाता है उनके मत में आत्मा में ज्ञानादि गुण मनके साथ इस प्रकार चलते रहते हैं, जैसे—किसी सूत्र में कोई जलका बिन्दु हो, और उस पर उसी सूत्र में मणिक या गोली पोई (प्रोत) हुई हो, जिसके चलाने से सूत्र के भीतर रह करभी वह जलविन्दु गोली के साथ सरकता रहे, किन्तु पीछे या अन्यत्र नहीं रहता, इस चाल पर वह विन्दु सूत्र और गोली दोनों के ही भीतर रहा हुआ प्रतीत होता है। क्योंकि-गोली के भीतर सूत्र और सूत्र में विन्दु है। परन्तु सांख्यवालों ने समझा कि-" जब गोली के भी भीतर है, और उसके गमनके साथ ही वह चलता है तथा उससे अतिरिक्त वह कहीं मिलता भी नहीं" तो उसको उस सूत्र का धर्म न मानकर उस गोली का ही धर्म क्यों न माना जावे? तथा जिस आत्म देश में पहिले किसी वस्तुका अनुभव उत्पन्न होकर उससे उत्पन्न हुए भावना संस्कार के द्वारा जो फिर उसी वस्तुका स्मरण होता है, वह आत्मा के देशान्तर में ही होता है. जहां स्मरण काल में उसका लिङ्ग शरीर रहे, उसी प्रकार लिङ्ग शरीर के देशमें आत्मा ज्ञानवान् है और अन्य देश में ज्ञान शून्य. यह द्विविध भाव भी सांख्योंको मानना

न होगा, क्यों कि-यह एकान्त रूपसे ज्ञानादि गुणोंको अन्तः-करण सम्बन्धी मान कर आत्मा को निर्गुणमात्र कहते हैं, सब देश में आत्मा एकसा होने से द्वैविध्य नहीं आता है।

(विद्यामार्तण्ड)

सीताराम शर्मा शास्त्री।

यह निबन्ध "सारस्वत" अलीगढ़ के भाग ५ अङ्क २-३ में प्रकाशित हो चुका है।